ग्रीन इंडिया 2047 परियोजना के सलाहकार*

प्रोफेसर वाई.के. अलघ
माननीय राज्य मंत्री (विद्युत), भारत सरकार

श्री विश्वनाथ आनन्द
सचिव, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार

श्री पी. सेनगुप्ता
सचिव, पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस मंत्रालय, भारत सरकार

डा. शंकर एन. आचार्य
मुख्य आर्थिक सलाहकार, आर्थिक-कार्य विभाग

डा. एम.ए. चितड़े
अध्यक्ष, सिंचाई आयोग, महाराष्ट्र सरकार (भूतपूर्व महासचिव अंतरराष्ट्रीय सिंचाई एवं जल निकास आयोग)

श्री वी. रघुरमन्
महासचिव, दि एसोशिएटेड चैम्बर्स ऑफ कामर्स एंड इंडस्ट्री

डा. अमित मित्रा
महासचिव, फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर्स आफ कामर्स एंड इंडस्ट्री

प्रोफेसर एस.एल. राव
विशिष्ट फेलो, टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान

प्रोफेसर ए. वैद्यनाथन
प्रतिष्ठित प्रोफेसर, मद्रास इंस्टिट्यूट ऑफ डिवेलपमेंट स्टडीज

प्रोफेसर एन.सी. निगम
उप कुलपति, रूड़की विश्वविद्यालय

श्री के.एन. शिनाय
अध्यक्ष, एसिया ब्राउन बवेरी लिमिटेड, बंगलौर

*पदनाम 1 मार्च 1998 के अनुसार

विषय-वस्तु

अनुभव अतीत के

teri

निर्माण भविष्य का

ग्रीन इंडिया 2047

ISBN 81-85419-44-2

यह प्रकाशन टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित *लुकिंग बैक टू थिंक अहेड : ग्रीन इंडिया 2047* (ISBN 81-85419-34-5) के संक्षिप्त संस्करण (ISBN 81-85419-40-X) का हिन्दी रूपांतरण है।

प्रकाशक :
टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान
दरबारी सेठ ब्लाक
हैबिटेट प्लेस, लोधी रोड
नई दिल्ली-110 003/भारत
टेलीफोन (+91 11) 462 2246, 460 1550
ई-मेल outreach@teri.res.in
फैक्स (+91 11) 462 1770, 463 2609
वेबसाइट http://www.teriin.org

मुद्रक :
मल्टीप्लेक्सस (इंडिया)
94 बी.डी. एस्टेट, तिमारपुर,
दिल्ली-110 054

प्रस्तावना

यह परम आवश्यक है कि हम ऐसे रास्तों पर न जकड़ जाएं जो हमें किसी विशेष प्रौद्योगिकी पर अनुकूलतम से भी कम पर आश्रित होने की ओर ले जाते हैं। वर्तमान में आटोमोबाइल ने समूचे औद्योगीकृत विश्व और अधिकांश विकासशील विश्व को एक ऐसे रास्ते पर जकड़ दिया है जो यातायात के अन्य साधनों की दिशा में ले जाने वाले आमूल परिवर्तनों को आगे बढ़ने ही नहीं देता है।

टाटा उर्जा अनुसंधान संस्थान ने पृथ्वी दिवस 1995 के अवसर पर ग्रीन इंडिया 2047 परियोजना का शुभारंभ किया। (यहां ग्रीन (GREEN) एक परिवर्णी शब्द है जो इस परियोजना के अंग्रेजी भाषा में पूरे नाम Growth with resource enhancement of environment and nature, जिसका हिन्दी शब्दार्थ है प्रकृति और पर्यावरण के साधनों में वृद्धि के साथ विकास, के लिए प्रयुक्त किया गया है)। यह परियोजना एक ऐसा प्रयास है, जिसमें सम्मिलित है (1) सन 1947 में स्वतंत्र होने के बाद से लेकर पिछले 50 वर्षों में भारत के प्राकृतिक संसाधन आधार में आए परिवर्तनों का अध्ययन और (2) मौजूदा झुकावों को आगे आने वाले 50 वर्षों को लेकर यह जानने के लिए दर्शाना कि (अ) यदि हम इसी रास्ते पर चलते रहे तो फिर क्या कुछ घटने की संभावना है और (आ) यदि भारत को 21वीं सदी में टिकाऊ विकास के एक माडल के रूप में उभरना है तो फिर तुरंत ही हमें किन रणनीतियों को अपनाने की आवश्यकता है।

पर्यावरण के प्रति बढ़ती चेतना

सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक बहस और नीति-निर्माण में पर्यावरणी मुद्दों के बढ़ते महत्व को देखते हुए टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान ने पिछले 50 वर्षों के दौरान पर्यावरण में आए बदलावों की जांच-परख करने का निर्णय लिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकसित विश्व में पर्यावरणी मामलों को बल मिला और उन्हें प्रमुखता मिलनी शुरू हुई। सन् 1952 में लन्दन में धूम कोहरे के एक दौर के कारण हुई 4000 लोगों की मौत की घटना, समूचे औद्योगिक विश्व में प्रदूषकों को नदियों में बहा देने की घटनाएं और बहुत बड़ी संख्या में लोगों को मौत की नींद सुलाने वाली डोनोरा (पेन्नसिल्वेनिया) की घटना, ऐसे कुछ उदाहरण हैं जिन्होंने विकसित विश्व के लोगों में इन सबसे सम्बद्ध होने की भावना को संचरित किया और पर्यावरण के बचाव हेतु ठोस कदम उठाने की दिशा प्रदान की। भोपाल दुर्घटना के आघात ने भारत को यह सबक सिखाया कि पर्यावरणी हादसों को अब आगे

मुख्यतः अमीरों की चिंता का मामला समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। जहां इन घटनाओं ने लोक चेतना में पर्यावरणी मुद्दों की गंभीरता और अत्यावश्यकता को उजागर किया वहीं हेरोल्ड होटेल्लिंग, किन्नेथ बाउल्डिंग और निकोलस ज्योर्जिस्कू-रोइगेन जैसे अग्रणी विचारकों ने अर्थव्यवस्था और पर्यावरण के परस्पर रिश्ते को और अच्छी तरह समझने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पर्यावरणी समस्याओं के और बड़ा रूप लेने एवं और जटिल होने के साथ साथ इस क्षेत्र में अनुसंधान कार्य भी विकसित तथा गहन होता गया।

प्राकृतिक संसाधनों का लेखा-जोखा

हाल के वर्षों में, पर्यावरण के ह्रास के कारण मानव कल्याण को हुई हानि का आर्थिक आधार पर मूल्यांकन करने के लिए कई तकनीकों का विकास किया गया है। इससे सम्बद्ध एक पद्धति है- प्राकृतिक संसाधनों का लेखा-जोखा जिसे अब कई देशों में काम में लाया जा रहा है। रौबर्ट रैपैटो तथा एल सेराफी जैसे विद्वानों द्वारा किए गए प्रारम्भिक कार्यों से जो आनुभविक प्रमाण मिले उनसे इस दावे को समर्थन मिला कि परम्परागत आर्थिक नीति का संचालन करने के लिए सूचना-आधार जुटाते समय 'राष्ट्रीय आय लेखा-जोखों' में पर्यावरण को, जो कि समूची मानव समृद्धि का मूलाधार है, अनदेखा करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरण के लिए, क्रूज और रैपैटो द्वारा किए गए एक अध्ययन में फिलिपीन में चलाये जा रहे स्थिरीकरण और ढांचागत समायोजन कार्यक्रमों के पर्यावरणीय प्रभावों की जांच की गई। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि वास्तव में फिलिपीन में हुए आर्थिक विकास की प्रक्रिया में वर्तमान खपत की कीमत अदा करने तथा तुलनात्मक रूप से अनुत्पादक औद्योगिक पूंजी का निर्माण करने में प्राकृतिक साधन सम्पदा का क्षरण हुआ है। सिर्फ तीन क्षेत्रों-वानिकी, मिट्टी और तटीय मत्स्य उद्योग-में ही साधनों का औसत अवमूल्यन 1970 से 1987 तक के सकल घरेलू उत्पाद के 4% से अधिक हुआ है।

टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान 1990 के दशक के प्रारम्भ से 'प्राकृतिक संसाधन लेखा-जोखा' के क्षेत्र में संलग्न है। इसका पहला अध्ययन 'प्राकृतिक संसाधनों का लेखा-जोखा : टिकाऊ विकास को मापने का एक साधन', भारत में मिट्टी, वन और कोयले में हुए ह्रास के मूल्य को परिमाणित करने की दिशा में एक अग्रगणी प्रयास था। इस अध्ययन से आर्थिक वृद्धि और पर्यावरण के आपसी संबंधों की समझ को विकसित करने की दिशा में और अधिक जांच-पड़ताल करने के लिए प्रोत्साहन मिला।

ग्रीन इंडिया 2047

ग्रीन इंडिया 2047 परिवर्तनों की जांच-परख महज भौतिक तौर पर ही नहीं करता बल्कि पर्यावरणी ह्रास की असली कीमत भी बताता है।

यह आर्थिक पहलुओं को और ज्यादा पारदर्शी बनाने में मददगार तो है ही इसके अलावा यह उन विकास योजनाकारों का ध्यान खींचने में भी सहायक है, जो अपने निर्णयों के परिणामों को आर्थिक तौर पर तौलने के आदी होते हैं। ग्रीन इंडिया 2047 ने यह उजागर किया है कि पर्यावरणी क्षतियों की वास्तविक आर्थिक कीमतें निश्चय ही अत्यधिक हैं, जिससे टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान के इस तर्क को बल मिलता है कि कल के परिणामों को प्रभावित करने के लिए आज कदम उठाने की आवश्यकता है।

अर्थव्यवस्था और समाज में दूरगामी परिवर्तन लंबी समयावधियों में घटित होते हैं। उदाहरण के लिए किसी वस्तु या सेवा (सर्विस) के वास्ते मांग को प्रभावित करने में कीमतों को दस वर्ष तक लग सकते हैं और किसी विचार को ऐसी परिपक्व प्रौद्योगिकी, जो बाजार में व्यापक पैमाने में स्वीकृत हो, का आकार लेने में और भी लंबा समय लग सकता है। इसलिए, यह परम आवश्यक है कि हम ऐसे रास्तों पर न जकड़ जाएं जो हमें किसी विशेष प्रौद्योगिकी पर अनुकूलतम से भी कम पर आश्रित होने की ओर ले जाते हैं। ग्रबलर इस खतरे को आटोमोबाइल के उदाहरण से समझाते हैं। अब आटोमोबाइलों का व्यापक पैमाने पर व कम लागत पर उत्पादन होता है; इन वर्षों में बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन और अनवरत सुधारों के कारण आटोमोबाइल ज्यादा से ज्यादा लोगों की पहुंच में आ गए हैं। यदि यातायात के वैकल्पिक साधनों के प्रति भी इसी हिसाब से दक्षता और संसाधनों की उदारता दिखाई होती तो ये साधन भी शायद निजी आटोमोबाइलों के मुकाबले के हो सकते थे। तथापि, आटोमोबाइल ने समूचे औद्योगीकृत विश्व और अधिकांश विकासशील विश्व को एक ऐसे रास्ते पर जकड़ दिया है जो यातायात के अन्य साधनों की दिशा में ले जाने वाले आमूल परिवर्तनों को आगे बढ़ने ही नहीं देता।

यह उदाहरण उचित विकल्पों को तैयार करने की आवश्यकता को बताता है और ग्रीन इंडिया परियोजना ऐसे विकल्पों का पता लगाने तथा उनको विकसित करने और परिवर्तन हेतु एजेंडा उपलब्ध करने की एक आगे भी जारी रहने वाली प्रक्रिया है। और यह तथ्य कि इस परियोजना के संचालन के लिए अधिकांश धनराशि उद्योग जगत से प्राप्त हुई है, टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान के इस विश्वास को प्रबलित करता है कि अब परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में उद्योग जगत उतना ही महत्वपूर्ण है जितना पूर्व में सरकार हुआ करती थी।

विकास और जीवन शैलियों में बदलाव : 1947 से 1997

उड़ीसा के गंजम जिले में शिशु मृत्यु दर और राजस्थान के बाड़मेर जिले में महिलाओं में अशिक्षा, विश्व के किसी भी हिस्से से तुलना की जाए तो अधिकतम में आती है।

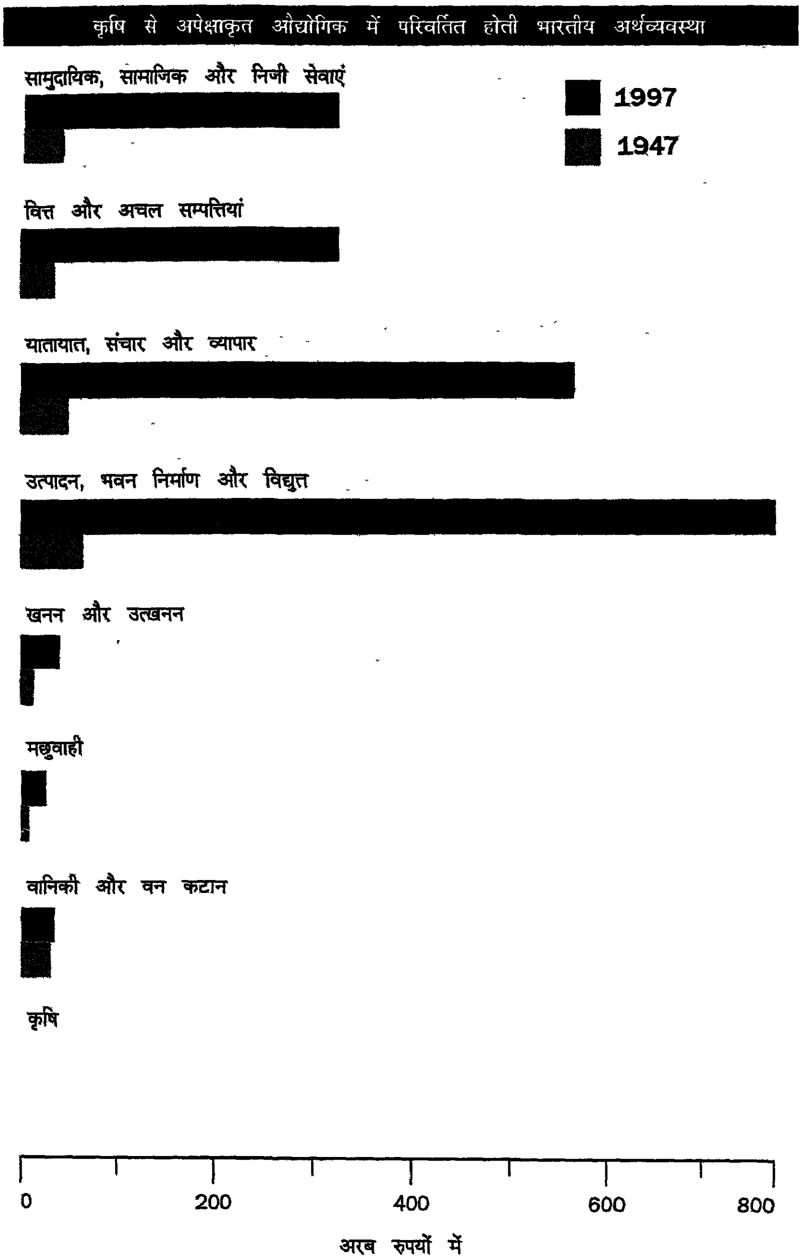
आजादी के बाद से पिछले 50 वर्षों में, भारत की अर्थव्यवस्था धीमी चाल से लेकिन लगातार बढ़ती गई और बिल्कुल हाल के वर्षों में इसकी चाल ने कुछ तेजी पकड़ी है। यद्यपि कुल उत्पादन में कृषि के हिस्से में कमी आई है, फिर भी देश की कुल आबादी का 60% हिस्सा अभी भी अपनी जीविका के लिए खेती-बाड़ी पर आश्रित है। सबसे बड़ी विफलताएं रही हैं-शिक्षा और स्वास्थ्य। कुछ राज्यों में आबादी का तेजी से बढ़ना जारी रहा, जिसके कारण प्राकृतिक संसाधन आधार पर दबाव बढ़ गया और शहरों में जाकर बसने की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला। बड़े शहरों के फैलने की प्रक्रिया में और तेजी आई। अपेक्षाकृत शहरी और बढ़ती जा रही अपेक्षाकृत धनाड्य आबादी ने और ज्यादा उपभोक्तावादी बनना शुरू कर दिया है।

धीमा एवं निरंतर आर्थिक विकास

भारत ने पिछले पांच दशकों में एक निरंतर प्रक्रिया में स्वयं को कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था से एक मजबूत औद्योगिक आधार में रूपांतरित कर दिया है। हालांकि खासतौर पर पूर्वी एशियाई देशों की तुलना में हमारी विकास की रफ्तार धीमी और ठहर-ठहर कर आगे बढ़ने वाली थी। भारत ने अपने प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद को 1947 के 1200 रुपए से बढ़ाकर 1997 में 2300 रुपए (1980/81 की कीमतों पर) अर्थात लगभग दुगने तक पहुंचा दिया। बिल्कुल हाल के वर्षों में देश की अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत तेज गति से बढ़ी है। 1950/51 और 1980/81 के बीच जहां इसकी दर 3.6% थी वहीं 1980/81 के बाद से यह दर 5% से 6% की वार्षिक दर से बढ़ रही है।

इस विकास के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक बदलाव भी आया है (चित्र 1)। सन् 1947 में जहां कुल घरेलू उत्पाद में कृषि का आधा हिस्सा था वहीं 1997 में इसका हिस्सा तिहाई से भी कम था, वानिकी का हिस्सा तो और भी तेजी से घटा और वह 1947 में जितना था 1997 में उसके पांचवें हिस्से तक सिमट गया। दूसरी ओर इसी अवधि में सकल घरेलू उत्पाद में उत्पादन, भवन निर्माण और बिजली ने अपने हिस्से में मोटे तौर पर 173% की बढ़ोत्तरी की। यातायात और संचार के मामले में भी ऐसा ही देखने को मिला। वित्त तथा अचल सम्पत्ति और सामुदायिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत सेवाओं ने भी कुल घरेलू उत्पाद में अपने हिस्से को बढ़ाया है।

विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास के पर्यावरण के लिए अलग-अलग परिणाम होते हैं। औद्योगिक क्षेत्र के अंतर्गत सबसे तेजी से बढ़ने वाले उद्योग रहे हैं-रसायन तथा उर्वरक, कागज, सीमेंट, विद्युत उत्पादन और एल्युमिनियम। ये सभी ज्यादा प्रदुषणकारी उद्योगों की श्रेणी में भी आते हैं। पर्यावरणी ह्रास में कृषि की भी हिस्सेदारी रही है। अपनी जमीन के उतने ही हिस्से से अधिक उपज लेने की कोशिश में किसानों ने जरूरत से ज्यादा उर्वरकों, ज्यादा कीटनाशकों और ज्यादा



चित्र 1 प्रमुख क्षेत्रों द्वारा सकल घरेलू उत्पाद (1980/81 की कीमतों पर): 1947 और 1997

पानी का इस्तेमाल शुरू कर दिया। उदाहरणार्थ नाइट्रोजनी, फास्फेटी और पोटैशियमी उर्वरकों की खपत 1970/71 और 1994/95 के बीच की अवधि में 22 लाख टन से बढ़कर 1.36 करोड़ हो गई। अर्थात इस खपत में लगभग 6 गुना वृद्धि हुई। ज्यादा उर्वरकों से सिर्फ मुख्य पोषकों की ही आपूर्ति होती है, अर्थात अब फसलों को 'संतुलित आहार' नहीं मिलता, कीटनाशकों की अधिक मात्रा मधुमक्खियों और केंचुओं को भी मार देती हैं; और जरूरत से ज्यादा सिंचाई के कारण पानी के प्राकृतिक भंडार और रीतते जा रहे हैं एवं इस प्रक्रिया में मिट्टी जल भराव तथा लवणता का शिकार हो रही है।

अर्थव्यवस्था के संघटन में इन विशिष्ट परिवर्तनों के बावजूद भी रोजगार का पैटर्न लगभग पहले जैसे बना रहा। 1972/73 में कृषि, वानिकी, मछुवाही और संबंधित धंधों में 74% श्रमिक बल जुटा था, जो 1992 में घटकर 65% हो गया। फलस्वरूप उत्पादन; विद्युत, गैस तथा पानी की आपूर्ति और भवन निर्माण में लगा श्रमिक बल 1972/73 के 10.8% के मुकाबले 1992 में 13.8% हो गया अर्थात इसमें बहुत कम वृद्धि हुई। सन 1991 में संगठित क्षेत्र का रोजगार के मामले में सिर्फ 7.82% का योगदान था, जो 1973 के 7.96% के आंकड़े से थोड़ा कम था।

भारत एक विशाल एवं विविधताओं का देश है इसलिए राष्ट्रीय स्तर के आंकड़ों के पीछे व्यापक क्षेत्रीय विभिन्नताएं छुप जाती हैं। 1993/94 में पंजाब में सकल राज्य उत्पाद बिहार में सकल राज्य उत्पाद के मुकाबले में तीन गुना से भी ज्यादा रहा। इसके अलावा यह भी स्पष्ट नहीं है कि आर्थिक विकास से गरीबी में किस सीमा तक कमी आई है, जबकि सरकार द्वारा नियुक्त एक समिति ने पहले यह अनुमान व्यक्त किया था कि गरीबी की रेखा के नीचे की आबादी की प्रतिशतता में अच्छी-खासी कमी आई है और यह आबादी जहां 1987/88 में 29% थी, 1993/94 में यह 19% तक रह गई। लेकिन बिल्कुल हाल के अनुमानों के अनुसार तो यह कमी मामूली है-यह 38.9% से घटकर 36% हुई है, ग्रामीण भारत में गरीब लोग साझा सम्पति संसाधनों पर कहीं ज्यादा निर्भर हैं। लोगों को सुनकर जुटाए प्रमाणों और कुछ पृथक अध्ययनों से यह लगता है कि गरीबों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा सरकारी अभिलेखों में बहुत ज्यादा उपेक्षित इस संसाधन आधार का बदलते स्वामित्व तथा प्रबंधन और बढ़ती आबादी के बोझ के कारण क्षय होता जा रहा है। इस प्रकार कुछ मामलों में गरीबी के आंकड़े इस समस्या को कम करके बताते हैं।

विशाल जनसंख्या

भारत की जनसंख्या 1947 में 33.6 करोड़ से बढ़कर 1990/91 में 83.9 करोड़ और 1997 में अनुमानित 95.3 करोड़ तक पहुंच गई है। हालांकि विगत कुछ वर्षों में वृद्धि की दर में थोड़ी कमी आई है, पर चार हिन्दी भाषी राज्यों, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश

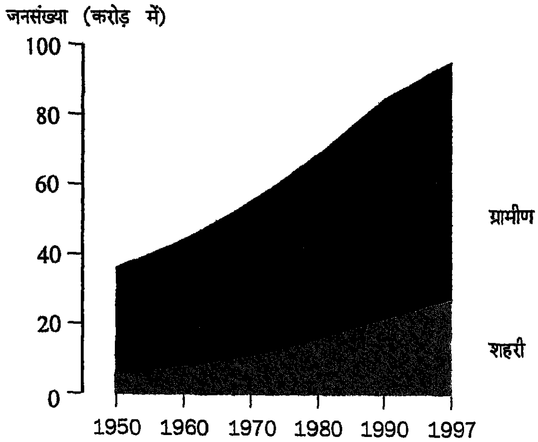
में प्रजनन दर उच्च, प्रति महिला 6 बच्चे रही। यह राज्य केरल और तमिलनाडु जैसे राज्यों के उदाहरण से सबक नहीं ले पाये, जहां प्रजनन दर निम्न, 2 बच्चे प्रति महिला रही।

जनसंख्या वृद्धि के परिणामस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों में लगातार कमी आ रही है। 1947 में प्रत्येक व्यक्ति के लिए औसतन 6,000 घनमीटर जल उपलब्ध था, 1997 में यह मात्रा 2,300 घनमीटर रह गई। इसी अवधि के दौरान भूमि की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता 9,700 वर्ग मीटर से घटकर 3,500 वर्गमीटर रह गई। जनसंख्या वृद्धि से संबंधित और महत्वपूर्ण प्रभाव भूमि का छोटे हिस्सों में बंटवारा है, जो गरीबी बढ़ाने में सहायक है। 1970/71 से 1990/91 की अवधि के दौरान सीमान्त और छोटे किसानों (जिनका 2 हेक्टेयर या कम भूमि पर स्वामित्व है) की संख्या 65% बढ़ गई। 1970/71 में ऐसे किसानों की संख्या 4.9 करोड़ थी, पर 1990/91 में इनकी संख्या 8.2 करोड़ तक पहुंच गई।

भीड़ भाड़ वाले शहर

भारत का शहरीकरण पिछले 5 दशकों के दौरान धीरे-धीरे हुआ (चित्र

औद्योगिक विकास के 50 वर्षों के बावजूद अभी भी अधिकांश भारतीय गांवों में रहते हैं



चित्र 2 भारत की शहरी और ग्रामीण आबादी : 1950 से 1997 तक

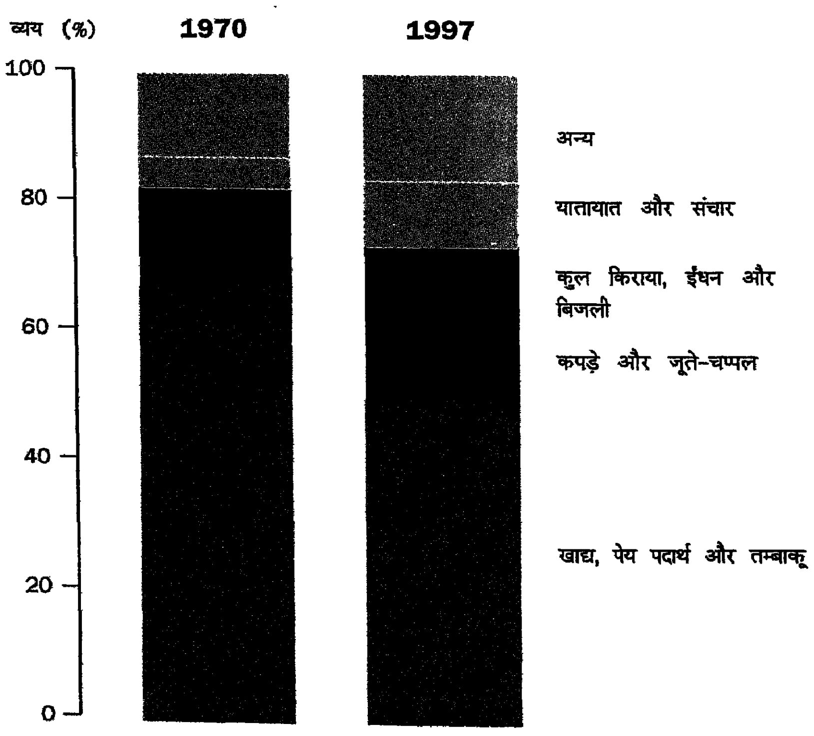
2)। 1990 में केवल 26% भारतीय शहरों के निवासी थे। वृद्धि की दर विशेष रूप से महानगरों में केंद्रित रही, जो तेजी से बढ़ रहे हैं : 1951 में केवल 55% शहरी आबादी 5 लाख या अधिक आबादी वाले शहरों में रहती थी, 1991 में यह संख्या बढ़कर 76% तक पहुंच गई। दस लाख से अधिक आबादी वाले शहरों की संख्या 1981 में केवल 12 थी जो 1991 तक 23 हो गई।

सामाजिक और मानवीय विकास : स्वास्थ्य और शिक्षा

स्वास्थ्य और शिक्षा में निवेश महज आर्थिक विकास के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि यह अपने आप में एक विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र में भारत कई विकासशील देशों के मुकाबले पिछड़ा हुआ है। उड़ीसा के गंजम जिले में शिशु मृत्यु दर और राजस्थान के बाड़मेर जिले में महिलाओं की अशिक्षा, विश्व के किसी भी भाग से तुलना की जाए तो अधिकतम में आती है। पुरूषों और स्त्रियों में असमानता के संदर्भ में कुछ राज्य तो सहारा अफ्रीका के क्षेत्र के देशों से भी पीछे हैं। हालांकि आजादी के बाद से पढ़ और लिख सकने वाले भारतीयों की संख्या तीन गुनी से भी अधिक बढ़ी है, पर अभी तक करीब आधे भारतीय अनपढ़ हैं।

सुरक्षित पीने के पानी तक पहुंच वाली आबादी के अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है–1985 से 1996 के बीच ग्रामीण क्षेत्रों और शहरी क्षेत्रों में क्रमशः 56% से 82% और 73% से 85% तक आंकड़े बढ़े। पर, स्वच्छता की सुविधा ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग नगण्य है और वर्ष 1996 में पूरी शहरी आबादी में से करीब आधी को यह सुविधा प्राप्त थी।

अब परिवारों द्वारा यातायात, बिजली आदि पर ज्यादा खर्चा ओर खाद्य पदार्थों पर कम खर्चा किया जाता है



चित्र 3 घरेलू बाजार में व्यक्तिगत अंतिम उपभोग व्यय का संघटन

बदलते उपभोग पैटर्न

शहरीकरण और बढ़ती आमदनियों के साथ-साथ उपभोग पैटर्न भी बदल रहे हैं (चित्र 3)। सन् 1970 में घरेलू बाजार में अंतिम उपभोग व्यय में से लगभग 64% खाद्य-सामग्री पर खर्च हुआ, जो 1997 में घटकर मोटे तौर पर 50% तक पहुंच गया। दूसरी ओर, उपभोग के संदर्भ में अब जो अपेक्षाकृत बड़े हिस्से को घेर रहे हैं वे इस प्रकार हैं : कपड़े व जूते-चप्पल, कुल किराया, ईंधन व बिजली और यातायात व संचार। अब खाने के कुल बजट में मांस, अंडों तथा मछली का भी अपेक्षाकृत बड़ा हिस्सा होता है।

उपसंहार

आर्थिक विकास तो सर्वोपरि रहेगा; तथापि इसके पैटर्न को बदलने की आवश्यकता है। एक तो स्वास्थ्य और शिक्षा पर निवेश को, विशेषकर महिलाओं के लिए, अपेक्षाकृत अधिक प्राथमिकता देने की जरूरत है और दूसरा, अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता को वहां बढ़ाने की आवश्यकता है जहां ऐसी क्षमता प्राकृतिक संसाधन परिसम्पत्तियों को सम्मिलित करने के लिए विस्तारित की जाती है। संसाधनों के और अधिक कुशल उपयोग को और उत्पादन तथा उपभोग के क्रियाकलापों में पर्यावरण को कम क्षति पहुंचाने को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। आगे पुस्तक के अंतिम अध्याय में 'दिशा' नामक शीर्षक के अंतर्गत इन मुद्दों पर और विस्तार से चर्चा की जाएगी।

जल संसाधन

वर्ष 1974 से 1997 के बीच जल-स्तर हरियाणा के कुरूक्षेत्र जिले में 48 सेंटीमीटर और महेंद्रगढ़ जिले में 54 सेंटीमीटर गिर गया।

भारत में वर्षा द्वारा प्रतिवर्ष 4,000 घन किलोमीटर जल भूमि पर पहुंचता है। फिर भी, दक्षिणी-पश्चिमी मानसून (जून से सितम्बर) के दौरान अत्यधिक वर्षा और इसके असमान वितरण (पश्चिमी राजस्थान में 100 मिलीलीटर और मेघालय में 9,000 मिलीमीटर) के कारण, विभिन्न नदियों के जल-ग्रहण क्षेत्र में जल की उपलब्धता में बहुत असमानतायें हैं (चित्र 4)। भारत में नवीनीकृत मृदुजल की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता वर्ष 1947 में 6,000 घनमीटर थी, जो 1997 में घटकर 2,300 घनमीटर रह गई (चित्र 5)। देश के 1,100 घन किलोमीटर उपयोग-योग्य जल संसाधनों का करीब 60% भाग सतहीय स्रोतों, जैसे नदियों में उपलब्ध है और शेष 40% भू जल स्रोतों, जैसे कुंओं में।

दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम में पानी की बहुत कमी है



चित्र 4 भारतीय नदी जल-ग्रहण क्षेत्रों में जल की उपलब्धता

जल का अत्यधिक और अकुशल उपयोग

राष्ट्रीय स्तर पर भूजल का अत्यधिक दोहन नहीं किया जाता– कुल वार्षिक उपयोग-योग्य क्षमता के 30% भाग का ही उपयोग होता है। हालांकि, कुछ राज्यों में भूजल का अत्यधिक दोहन किया जा रहा है–पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और तमिलनाडु राज्यों के कुल भू-जल मंडलों में से क्रमशः 52%, 42%, 19% और 14% मंडलों में इसका अत्यधिक उपयोग हो रहा है। गुजरात के मेहसाणा जिले तथा तमिलनाडु के कोयम्बटूर जिले में भू-जल के सोते स्थाई तौर पर सूख चुके हैं। तंगहाली वाले भूजल मंडलों की संख्या 1984/85 में 253 थी जो 1992/93 में 422 तक पहुंच गई। वर्ष 1974 से 1997 के बीच जल-स्तर हरियाणा के कुरूक्षेत्र जिले में 48 सेंटीमीटर और महेंद्रगढ़ जिले में 54 सेंटीमीटर गिर गया। गुजरात में 1980 के दशक के दौरान अध्ययन किये गये कुल कुंओं में से 90% के जल-स्तर में 50 से 950 सेंटीमीटर की कमी आंकी गई।

प्रमुख शहरों में भी भू-जल का अत्यधिक दोहन किया जा रहा

बढ़ती आबादी के कारण पानी की कमी में बढ़ोतरी होती है



चित्र 5 1947 से 1997 तक नवीनीकृत मृदुजल की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता

है। उदाहरण के लिए, अहमदाबाद में 1980 के दशक के दौरान प्रतिवर्ष 200 से 250 सेंटीमीटर की गिरावट आई।

एक ओर जहां भू-जल के अत्यधिक उपयोग में लगातार वृद्धि हो रही है, वहीं दूसरी तरफ सतही जल का अपर्याप्त और अकुशल उपयोग किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के आरंभ में ही पूर्ण क्षमता का उपयोग किया गया था, पर वर्तमान में करीब 10% संसाधन का प्रयोग नहीं हो रहा है। इससे भी अधिक परेशानी की बात यह है कि जल के उपयोग के दौरान एक बड़ा भाग व्यर्थ किया जाता है। यह अनुमान किया गया है कि सिंचाई के दौरान 45% जल भूमि के अंदर रिस जाता है और इसके अतिरिक्त 15% जल सिंचाई की आवश्यकता से अधिक इस्तेमाल किया जाता है। उद्योगों में भी अत्यधिक मात्रा में जल व्यर्थ किया जाता है-जल उपयोग क्षमता के मामले में भारत का स्थान विकसित देशों के मुकाबले ही नहीं बल्कि अनेक विकासशील देशों से भी पीछे है।

पानी के दुरुपयोग के कारण

पानी के गिरते तल का संबंध भू-जल के साधनों की संख्या में वृद्धि से है : 1947 में 35 लाख के ऊपर कुएं थे; 1997 में इनकी संख्या बढ़कर तीन गुने से अधिक हो गई (तालिका-1)। 'हरित क्रांति' के कारण निजी स्वामित्व वाले उथले ट्यूब-वैलों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई : 1947 में लगभग 1000 से 1968/69 में 3,60,000 और 1997 में 60 लाख। नहरों से सिंचाई की तुलना में किसानों को कुओं पर नियंत्रण रखने में आसानी होती है जिससे सही समय पर, समुचित मात्रा में, भरोसे के साथ काम हो पाता है। 1965/66 में कुओं से कुल सिंचाई क्षेत्र का एक तिहाई भाग सिंचित होता था, परंतु 1997 में यह बढ़कर आधे से अधिक हो गया। भू-जल को निकालने के साधन, जैसे कुओं, तथा सतह के पानी को उपयोग करने के साधन, जैसे बांधों, में तो खूब वृद्धि हुई है किंतु कई प्रकार के स्थानीय तथा परम्परागत साधनों में, जो कि स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल होते हैं, बड़ी गिरावट आई है।

तालिका-1 : भू-जल के साधनों में क्रमिक वृद्धि : 1947 से 1997

वर्ष	*खोदे गए कुंए (लाख में)*	*निजी उथले ट्यूब-वैल (हजारों में)*	*गहरे ट्यूब-वैल (हजारों में)*
1947	35	1	1.7
1950/51	39	3	2.4
1968/69	61	360	14.6
1973/74	69	1000	22.0
1978/79	77	1960	32.6
1984/85	87	3360	46.2
1993/94	102	5040	69.4
1997	109	6020	83.2

इस हालत के लिए बहुत सारे नीतिगत तथा संस्थागत कारण भी जिम्मेवार हैं। अत्यधिक सस्ती दरों पर बिजली उपलब्ध करवाने के कारण किसान अधिक से अधिक ट्यूब-वैल लगवाने के लिए प्रेरित हुए और उनसे अधिक से अधिक पानी खींचा जाने लगा। पानी खींचे जाने पर नियंत्रण के प्रयास सफल नहीं रहे हैं : ऋणों पर प्रतिबंध लगाने का कोई प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि संपन्न किसान इन आसान ऋणों के बगैर भी यह सब कर सकते हैं; यदि बिजली की आपूर्ति पर प्रतिबंध लगाया जाता है तो भी धनी किसान जहां कहीं भी पानी के तल

समुचित ऊंचाई पर उपलब्ध हैं डीजल पम्पों का इस्तेमाल करके पानी खींचने लगते हैं। 1970 और 1992 के आदर्श भू-जल विधेयकों में कुओं तथा अन्य पानी खींचने के साधनों की संख्या को नियंत्रित करने के लिए कहा गया है न कि खींचे जाने वाले पानी की मात्रा को। मूल बात यह है कि पानी पर स्वामित्व के अधिकार की कोई सुपरिभाषित प्रणाली नहीं है जिससे व्यक्तिगत और सामूहिक निष्कर्षण को सीमित किया जा सके।

भूमि स्तरीय जल संसाधनों की स्थिति भी खास अच्छी नहीं है। सरकार ने नई परियोजनाओं जैसे बांध तथा नहरों के लिए उदारतापूर्वक खर्च किया है, परंतु इनको आत्मनिर्भर बनाने पर बहुत कम ध्यान दिया है। पानी इतनी सस्ती दरों पर उपलब्ध कराया जाता है कि उससे परिचालन और रख-रखाव का खर्च भी नहीं निकाला जा सकता, पूंजीगत लागत और अवमूल्यन तो दूर की बात है।

पानी के दुरुपयोग के प्रभाव

पानी की घटती उपलब्धता और पेय जल पर होने वाले अपर्याप्त निवेशों के कारण पानी को एकत्र करने के काम में कठिनाईयां बढ़ी हैं। हाल ही में किए गए एक अध्ययन के अनुसार दिल्ली, गाजियाबाद व हैदराबाद की कई स्त्रियों को सिर्फ पानी लाने के लिए करीब चार घंटे रोज खर्च करने पड़ते हैं- इस समय को किसी रोजगार या पढ़ाई लिखाई में इस्तेमाल किया जा सकता था।

भू-जल के अत्यधिक उपयोग से इसकी गुणवत्ता में कमी आती है क्योंकि इससे इसका खारापन बढ़ता है। शुष्क तथा अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में खारे पानी की परतें अक्सर मीठे पानी की परतों के नीचे पाई जाती हैं और ये दोनों परतें तब मिल जाती हैं जब घटते जल स्तर को पहुंचने के प्रयास में नलकूपों को गहरा किया जाता है। तटीय इलाकों में खारापन समुद्री पानी के जलभरों (एक्वीफर्स) में प्रवेश करने के कारण होता है।

जो प्रदेश इस समय भू-जल का सर्वाधिक अतिदोहन कर रहे हैं वे देश के कृषि क्षेत्र के महत्वपूर्ण प्रदेश भी हैं। तेरह राज्यों में से, जिनमें प्रत्येक के पास तीन लाख हैक्टेयर से अधिक कुल सिंचित क्षेत्र है, आठ में भू-जल सिंचाई का प्रमुख स्रोत है। कुछ क्षेत्रों में इसके अतिदोहन के कारण पानी खींचना अधिक से अधिक महंगा होता जाएगा। इन ऊंची कीमतों का छोटे और सीमांत किसानों पर खास तौर से गंभीर प्रभाव हो सकता है। गिरते हुए जल-तल के कारण पानी खींचने वाले उपकरणों पर अधिकाधिक धन खर्च करना आवश्यक हो जाता है, जो कि छोटे और सीमांत किसान वहन नहीं कर सकते हैं।

'ग्रीन इंडिया 2047' परियोजना के अंतर्गत, जिन भू-भागों में भू-जल

का अति दोहन हो रहा है उनमें पुनः पूरणीय जल को निकालने पर भविष्य में लगने वाली बढ़ती लागतों का अनुमान लगाने के लिए विभिन्न दृश्य विस्तारों का अनुरूपण किया गया। यह कीमत 4.9 अरब रूपए से लेकर 9.8 अरब रूपए प्रति वर्ष आती है; जो इस बात की आवश्यकता को उजागर करता है कि बिजली की दरें इसकी आपूर्ति पर लगने वाली लागत के अनुरूप हों और भू-जल पर एक समन्वित नीति तैयार की जाए।

उपसंहार

यद्यपि हम पानी को पूरे देश के लिए एक साधन के रूप में मानते आए हैं, पानी की उपलब्धता एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक साथ अत्यधिक बदलती है। राजस्थान और गुजरात के कुछ भागों में, जहां हमेशा ही पानी की कमी रहती है, मांग में वृद्धि के साथ पानी की और अधिक तंगी होगी।

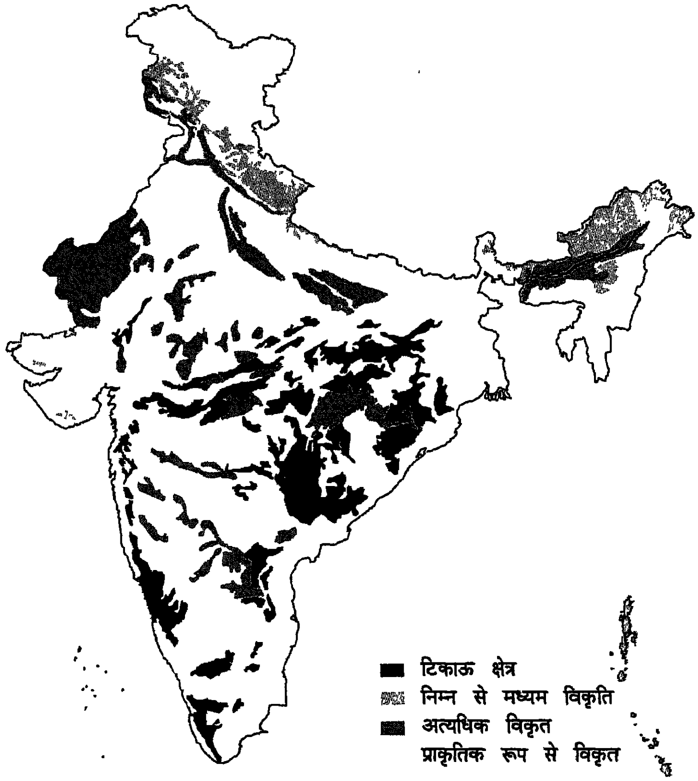
देश के कुछ भागों में पानी का तल अति-दोहन के कारण तेजी से गिर रहा है जिससे भू-जल खींचना अधिकाधिक महंगा कार्य होता जा रहा है। भू-जल की कितनी मात्रा निकाली जाए, इस पर नियंत्रण या प्रभाव डालने के लिए निकाले जाने वाले उपाय भविष्य की एक चुनौती हैं।

भू-तल का पानी कृषि तथा उद्योगों में निहायत अकुशलता के साथ प्रयोग किया जाता है, और इस कारण इसका सही मूल्य लगाना पानी के विवेकपूर्ण उपयोग की दिशा में निश्चय ही पहला कदम होगा। इससे न केवल जल संबधी कार्य से संबंद्ध संस्थानों को मजबूती मिलेगी बल्कि भारत के जल संसाधनों के निमार्ण में भी सहायता मिलेगी।

मिट्टी की विकृति के कारण आर्थिक हानि 89-232 अरब रुपए तक की होती है, अर्थात् कृषि की पैदावार में 11%-26% की हानि।

मिट्टी, जो कि जड़ और चेतन जगत के बीच एक कड़ी है, समूचे कृषि-व्यवसाय का आधार है। भारत के कुल 3287 लाख हैक्टेयर भौगोलिक क्षेत्र में से लगभग 2640 लाख हैक्टेयर भूमि कृषि, वानिकी, तथा संबंधित कार्यों के लिए उपलब्ध है। पुरानी परती भूमि व कृषि योग्य बंजर भूमि का पुनरुद्धार करके तथा किसी जमाने में वनों से ढके क्षेत्रों को उपयोग में लाकर कुल बुवाई क्षेत्र को 1950/51 के 1190 लाख हैक्टेयर से बढ़ाकर 1970/71 में 1400 लाख हैक्टेयर तक बढ़ाया गया, और तब से यही स्थिति बनी हुई है।

मिट्टी के विकृत होने के विभिन्न रूप



चित्र- 6. भारत में मिट्टी की विकृति

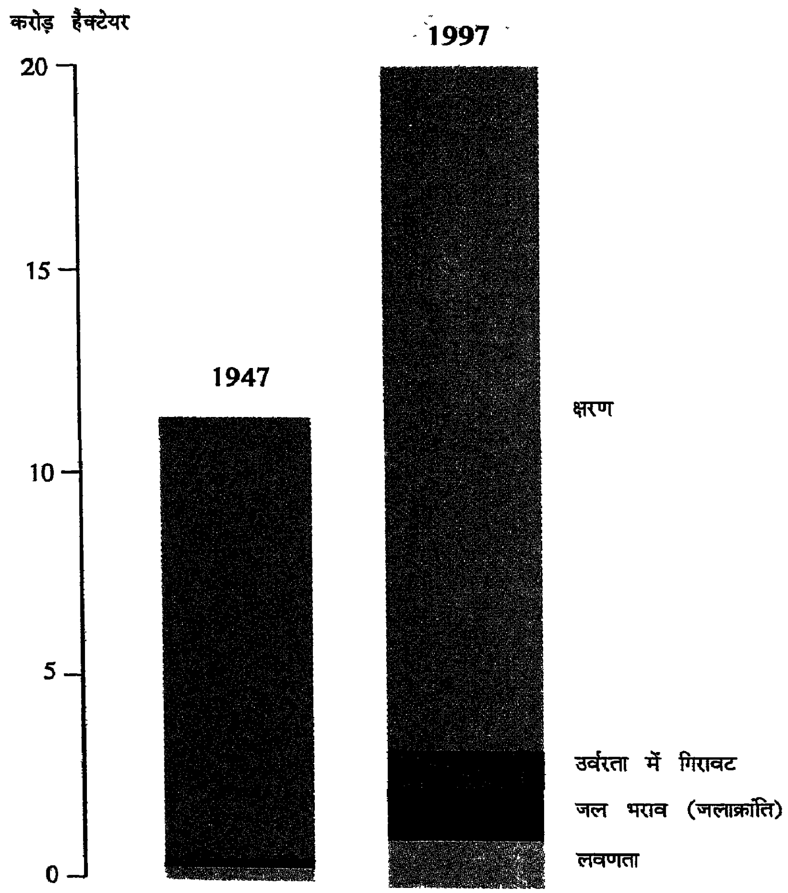
मिट्टी की विकृति

मिट्टी की उत्पादक क्षमता में गिरावट को मिट्टी की विकृति कहा जाता है। चार मुख्य प्रकार की विकृतियां इस प्रकार हैं- कटाव, खारापन, जलभराव (जलाक्रांति) और पोषक तत्वों की कमी।

सहगल तथा अब्रोल, जो नेशनल ब्यूरो ऑफ सॉइल सर्वे एंड लैंड यूज प्लानिंग, नागपुर में कार्यरत हैं, द्वारा 1994 में प्रकाशित नवीनतम अनुमानों के अनुसार भारत में कुल विकृत भूमि 1878 लाख हैक्टेयर है (चित्र 6)। हमारा अनुमान है कि 1947 में कुल विकृत भूमि लगभग 1120 लाख हैक्टेयर रही होगी (चित्र 7)।

भारत में मिट्टी की विकृति के प्रमुख कारण हैं पानी तथा हवा द्वारा कटाव। यह कुल विकृत क्षेत्र के 87% भाग के लिए जिम्मेवार हैं, और इसकी भागेदारी बढ़ती जा रही है। 1977 और 1997 के बीच कटाव द्वारा अत्यधिक प्रभावित क्षेत्र लगभग दुगुना हो गया। घने जंगलों,

सन् 1997 तक मिट्टी का विकृत होना देश के कुल क्षेत्रफल के 60% से अधिक भाग में फैल चुका था



चित्र - 7. मिट्टी की विकृति से प्रभावित क्षेत्र : 1947 और 1997

बर्फ से ढके ठंडे रेगिस्तानों और पश्चिमी राजस्थान के शुष्क भागों में प्रति हैक्टेयर प्रतिवर्ष 5 टन मिट्टी का कटाव होता है, परंतु शिवालिक पहाड़ियों में यह 80 टन तक पहुंच जाता है। कटाव वाली मिट्टी का लगभग 64% कुछ बुरी तरह कटावग्रस्त जगहों तथा मिट्टी की किस्मों से आता है : शिवालिक, पश्चिमी घाट व उत्तर-पूर्वी राज्य तथा तंग घाटियां और काली व लाल मिट्टी। कटी हुई मिट्टी का करीब 30% बहकर समुद्र में पहुंच जाता है और 10% जलाशयों में बैठ जाता है।

सन् 1976 में किए गए एक अध्ययन के अनुसार 17 प्रदेशों में करीब 60 लाख हैक्टेयर जमीन के जलाक्रांत होने का अनुमान था। जलाक्रांति की समस्या पश्चिम बंगाल, असम, बिहार, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश,

उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, पंजाब तथा हरियाणा में बहुत अधिक है। 1994 के एक नवीन अनुमान के अनुसार यह संख्या 116 लाख हैक्टेयर हो गई है।

एक करोड़ हैक्टेयर से अधिक भूमि लवणता या क्षारीयता से प्रभावित है, जिसमें से 25 लाख हैक्टेयर अकेले सिंधु-गंगा मैदानों में है। लवणयुक्त मिट्टी शुष्क, अर्ध-शुष्क, और कम नमी वाले क्षेत्रों में पाई जाती है, जबकि क्षारीय मिट्टी उन स्थानों पर होती है जहां 600 मिलीमीटर से अधिक वर्षा होती है। जिन राज्यों में लवणता से काफी बड़े क्षेत्र प्रभावित होते हैं वे हैं उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, महाराष्ट्र और कर्नाटक।

प्रतिवर्ष, लगभग 140 लाख टन महत्वपूर्ण पोषक तत्व, जैसे नाइट्रोजन, फासफोरस, और पोटेशियम, भारत की मिट्टी से कम हो जाते हैं। लाल और लेटराइट वाली मिट्टी में यह समस्या आसानी से आ जाती है। खेती वाली उपोष्ण पट्टी, खास तौर से उत्तर-पूर्व के वे क्षेत्र जहां झूम-खेती का प्रचलन है, उस 37 लाख हैक्टेयर का एक भाग है जिसमें पौधों के पोषक तत्वों और/या कार्बनिक पदार्थ की हानि इतनी अधिक हो जाती है कि इससे फसलों का उत्पादन अत्यधिक गिर जाता है।

मिट्टी की विकृति के कारण

विकृति के कारण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकते हैं। जंगलों का कटाव, झूम खेती तथा खेती के अनुपयुक्त तरीके, मिट्टी की विकृति के प्रत्यक्ष कारण हैं। परोक्ष कारणों में जनसंख्या वृद्धि, आर्थिक विकास तथा गरीबी हैं।

वनों के कटने को वायु द्वारा कटाव से प्रभावित क्षेत्र के 98% भाग में मिट्टी की विकृति के लिए जिम्मेवार माना गया है और लवणीकरण में भी इसका योगदान रहा है। वन कटान के कारण विकृति तब होती है जब कटाई की गई जमीन ढालदार, उथली या आसानी से क्षरणशील होती है अथवा कटाई के बाद जमीन की देखभाल नहीं की जाती है। यदि जंगलों से इमारती लकड़ी, जलाने की लकड़ी और अन्य वन्य उत्पाद इतनी मात्रा में निकाले जाते हैं जिसकी भरपाई प्राकृतिक वृद्धि द्वारा नहीं की जा सकती है तो वनों का विनाश शुरू हो जाता है, जैसा कि भारत के अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में होता है, जहां पर जलाने की लकड़ी की हमेशा ही कमी रहती है।

नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र 1950/51 में 80 लाख हैक्टेयर से बढ़कर 1991/92 में 170 लाख हैक्टेयर हो गया। नहरों की सिंचाई और जल निकासी की कमजोर व्यवस्था ने मिलकर काफी बड़े इलाकों को जलाक्रांत और लवणयुक्त कर दिया है। लवणीकृत और जलाक्रांत भूमि का करीब आधा भाग नहरों से सिंचित है। नहरों की सिंचाई से भू-जल आवश्यकता से अधिक भर जाता है, खास तौर से जबकि

नहरें पक्की नहीं होती हैं, जिससे किसी क्षेत्र विषेष का जलीय संतुलन गड़बड़ा जाता है। जब पानी का स्तर उठकर सतह तक पहुंच जाता है, यह अपने साथ घुले हुए लवण भी लेता आता है जिससे लवणता और क्षारीकरण पैदा होता है।

प्रति वर्ष, फसलों के उगाने से 2 करोड़ टन नाइट्रोजन, फासफोरस तथा पोटेशियम मिट्टी से निकल जाते हैं। अनाज की पैदावार 1950/51 में 5 करोड़ टन से बढ़कर 1994/95 में 19.1 करोड़ टन हो गई, यद्यपि जोती गई भूमि मोटे तौर से उतनी ही रही। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति हैक्टेयर पैदावार पहले से कहीं अधिक रही, जिसके कारण उर्वरकों, पानी व कीटनाशकों की अधिक खपत हुई। उर्वरकों की प्रभावी क्षमता अभी भी बहुत कम है : डाले गए उर्वरक का सिर्फ 23% ही पौधों द्वारा लिया जाता है; बाकी या तो घुल कर बह जाता है अथवा बेकार चला जाता है। अध्ययनों से पता चलता है कि कई क्षेत्रों में फसलें मिलाए गए पोषक तत्वों के मुकाबले कहीं अधिक मात्रा में उनका शोषण कर लेती हैं जिससे मिट्टी की क्षमता क्रमशः घटती चली जाती है।

मिट्टी के विकृति के प्रभाव

मिट्टी की विकृति :

- परिस्थितिक तंत्र की उत्पादकता घटाती है;
- पानी व ऊर्जा के संतुलनों को बदलकर तथा कार्बन, नाइट्रोजन, गंधक और अन्य तत्वों के चक्रों में रूकावट डाल कर विश्व जलवायु को प्रभावित करती है;
- कृषि उत्पादकता और पर्यावरण पर दुष्प्रभाव व जल प्रदूषण जैसे कई अन्य प्रभावों के कारण राजनैतिक और सामाजिक अस्थिरता बढ़ाने में सहायक हो सकती है।

हमने गिरती फसल उत्पादकता और जलाशयों की घटती क्षमता के कारण हुए आर्थिक नुकसान का अनुमान लगाया है, दोनों ही मिट्टी की विकृति की अभिव्यक्ति हैं। विकृति के कारण 89–232 अरब रुपए तक की क्षति होती है, जो कि कृषि उत्पादन का 11%–26% होता है (तालिका–2)। पानी तथा हवा के कारण होने वाला कटाव इस आर्थिक हानि का प्रमुख कारण है, जो निम्नीकृत क्षेत्र के लगभग 87% के लिए जिम्मेवार है। यद्यपि लवणता और जलाक्रांतता कुल प्रभावित क्षेत्र के सिर्फ 11% के लिए ही जिम्मेवार हैं, विकृति की कुल अनुमानित लागत के 30% तक में इनकी भागेदारी होती है।

तालिका 2 भारत में मिट्टी की विकृति के कारण होने वाली वार्षिक हानि।

विकृति के प्रकार	अनुमानित कीमत (अरब रुपए में)	
	ब्रैन्डन और हौमन घटकों के उपयोग से	सहगल और अब्रोल घटकों के उपयोग से
कटाव	61	216
लवणता	19	6
जलाक्रांतता	8	6
पोषक तत्वों का क्षरण	1	3

उपसंहार

मिट्टी की विकृति से फसलों के उत्पादन में भारी गिरावट आती है। पानी तथा हवा द्वारा कटाव और उसके बाद कुछ कम सीमा तक जलाक्रांतता व लवणता इस हानि के लिए अधिकांशतः जिम्मेवार हैं। वनों के कटाव से वायु तथा जल कटाव में तेजी आती है, और बिना समुचित जल निकासी प्रणाली के नहरों द्वारा सिंचाई करने से जलाक्रांतता और लवणता बढ़ती है। यद्यपि इन दोनों समस्याओं में से प्रत्येक के लिए अलग हल की आवश्यकता होगी, इस हानि को रोकने वाले कदम कम खर्चीले होने चाहिए तभी किसान इन्हें अपनाएंगे।

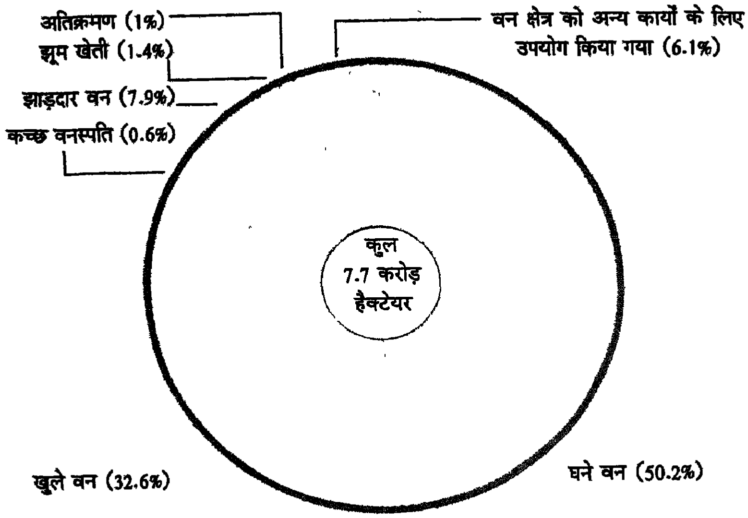
वन

हमारा अनुमान है कि वनों की वर्तमान वार्षिक वृद्धि दर सिर्फ 8.8 करोड़ घन मीटर है जबकि इसकी संभावना 13.9–23.5 करोड़ घन मीटर तक हो सकती है।

वन पारिस्थितिक जीवन तंत्र हैं और वे कई प्रकार की पारिस्थितिक और आर्थिक सेवाएं प्रदान करते हैं। गरीबों को वे चूल्हा जलाने के लिए लकड़ी देते हैं और अमीरों को विश्राम के क्षणों में प्रकृति के दृश्य प्रस्तुत करते हैं; पानी के बहाव को नियंत्रित करके तथा मिट्टी के कटाव को रोक कर वे, अदृश्य रूप से, किसानों की सहायता करते हैं; और वे आनुवंशिक संपदा को भविष्य की पीढ़ियों के लिए संचय कर रखते हैं। वन एक नवीकरणीय साधन हैं : उनको बनाए रखते हुए उनका उपयोग करने के लिए हम वनों का उतने से अधिक दोहन नहीं कर सकते जितना उनमें जुड़ता है।

1995 में, भारत के जंगलों का आधिकारिक रूप से अंकित क्षेत्रफल 7.7 करोड़ हैक्टेयर था। इसमें से लगभग आधा भाग घने जंगलों वाला था (शिखर सघनता 40% से ऊपर), एक तिहाई के

भारत के वनों का केवल आधा हिस्सा ही घने वनों की श्रेणी में आता है



चित्र – 8. भारत के वन क्षेत्रों की बनावट।

लगभग खुले जंगल थे (शिखर सघनता 10% से 40% के बीच), और तेरहवां हिस्सा झाड़ीदार जमीन थी (शिखर सघनता 10% से कम)। अंतिम प्रकार में कच्छ वनस्पति भी शामिल है, जो वनीकृत क्षेत्र का 1% से कम भाग बनाती है (चित्र 8)।

वनों का ह्रास

पिछले वर्षों में भारतीय वनों की गुणवत्ता में गिरावट आई है : जंगल अब पहले से कम घने रह गए हैं – अर्थात मात्रा में पहले से कमी – जबकि जंगलों के क्षेत्र में कोई कमी नहीं हुई है। यद्यपि आधिकारिक आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, हमारा अनुमान है कि आज का (1997) उगता हुआ वन भंडार, जो कि लगभग 4.7 अरब घन मीटर है, 1947 की तुलना में 90% है (तालिका 3)।

आजादी के समय भारत को एक ऐसा वन भंडार मिला जो द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बुरी तरह घट गया था : उद्योगों को कोयले की आपूर्ति काट दी गई थी और पेट्रोल पर राशन लगा दिया गया था, जिससे लकड़ी तथा काठ-कोयले की मांग चढ़ गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, जमींदारी उन्मूलन कानूनों के पास होने पर जमींदारों ने अपने अधिकार के वन क्षेत्रों को सरकार को सौंपने से पहले इन वनों का अधिकाधिक दोहन किया, जिससे उगते वन भंडार 1951 में घट कर लगभग 4.3 अरब घन मीटर तक पहुंच गए।

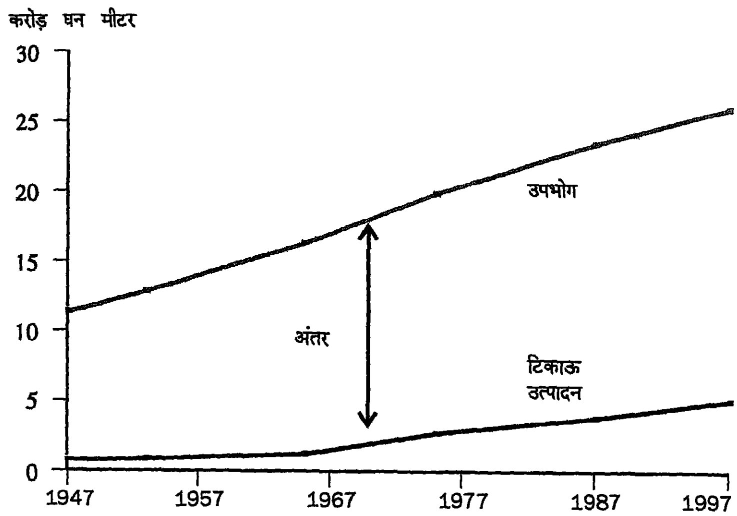
यद्यपि पंचवर्षीय योजनाओं में पौध लगाने और वनीकरण के प्रयास किए गए, इनसे भारत की वन संपदा में कोई खास बढ़ोतरी नहीं हो

पाई। वर्तमान में वनों में वृद्धि की दर संभावित वृद्धि दर से बहुत कम है (तालिका 3)। हमारा अनुमान है कि वर्तमान वार्षिक वृद्धि सिर्फ 8.8 करोड़ घन मीटर है, जबकि इसकी संभाव्यता 13.9- 23.5 करोड़ घन मीटर हो सकती थी।

तालिका-3 भारत के वन : 1947 और 1997 के मूल परिवर्ती।

परिवर्ती	*विद्यमान* *1947*	*1997*	*संभावित* *उच्च*	*(1997)* *निम्न*
वन क्षेत्र (करोड़ हैक्टेयर)	6.30	7.70	7.70	7.70
उगते भंडार (अरब घन मीटर)	5.20	4.70	12.70	7.50
वार्षिक वृद्धि (करोड़ घन मीटर)	6.40	8.80	23.50	13.90

मांग और टिकाऊ आपूर्ति के बीच लगातार बढ़ता अंतर



चित्र-9. ईंधन की लकड़ी की खपत तथा टिकाऊ उत्पादन : 1947 से 1997

वनों के ह्रास के कारण

वन संपदा में कमी के दो मुख्य कारण हैं अतिदोहन, अर्थात जितनी वृद्धि होती है उससे अधिक काट कर निकाल लेना, और विपथन, अर्थात वनों को काट कर खाली हुई जमीन को अन्य कार्यों के लिए उपयोग में लाना।

वन भंडारों में कमी आना तब शुरू हो जाता है जब लंबे समय तक उनसे उससे अधिक काट लिया जाता है जितना कि प्राकृतिक रूप

से पुनरुत्पादित होता है। इसका ज्वलंत उदाहरण ईंधन की लकड़ी है। 1947 में, ईंधन की लकड़ी की खपत और वनों को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखते हुए उनसे मिल सकने वाले ईंधन की मात्रा में 10.6 करोड़ घन मीटर का अंतर था; 1997 में यह अंतर बढ़कर 20.7 करोड़ घन मीटर हो गया (चित्र 9)।

वनों पर अन्य प्रकार के दबावों में भी बढ़ोतरी हुई है। जंगलों में चरने वाले जानवरों की संख्या 1950/51 में 2.5 करोड़ मवेशी (गाय को इकाई मान कर) से बढ़कर 1994/95 में 10 करोड़ हो गई, और आजादी से अब तक औद्योगिक लकड़ी की मांग लगभग 14 गुना बढ़ गई है (यद्यपि 1997 में इसकी सिर्फ 41% की ही पूर्ति हो पाई)।

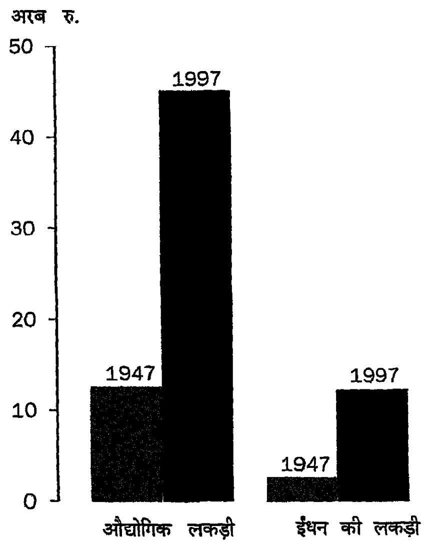
आजादी के बाद 50 वर्षों में, 53 लाख हैक्टेयर (कुल वन क्षेत्र का 7%) वन भूमि का अन्य कार्यों जैसे कृषि, नदी घाटी परियोजनाओं, खनन, उद्योगों, शहर निर्माण, सड़कों और ट्रांसमिशन लाइनों के लिए विपथन हुआ है। इनमें से विपथन हुए क्षेत्र का 60% कृषि के लिए उपयोग हुआ है। वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 के कारण वन क्षेत्र का अन्य कार्यों के लिए विपथन कम हुआ है। झूम खेती में, जो कि उत्तर-पूर्वी भारत में प्रचलन में है, जंगलों को खेती के लिए काटा जाता है और कुछ फसलें उगाने के बाद उस जगह को छोड़ दिया जाता है (बंजर बना दिया जाता है) और फिर से एक नई जमीन पर वन कटाई की जाती है। कम समय तक बंजर रहने के कारण, जमीन अपने पूर्व रूप में ठीक से नहीं आ पाती है, और इसका वनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। झूम खेती का क्षेत्र 1947 में 28 लाख हैक्टेयर से बढ़कर 1997 में 80 लाख हैक्टेयर हो गया।

वनों के ह्रास के प्रभाव

कई प्रकार के दबावों के एक साथ काफी समय तक पड़ते रहने के कारण भारत के जंगल बुरी तरह विकृत हुए हैं। कम घने वनों का अर्थ है सभी प्रकार के वन उत्पादों और सेवाओं की स्थाई उत्पादकता में कमी, जिसमें औद्योगिक लकड़ी और ईंधन की लकड़ी शामिल हैं। औद्योगिक लकड़ी और ईंधन की लकड़ी के इस टिकाऊ उत्पादन में कमी को ही निम्नीकरण के प्रभावों को आंकने के हमारे प्रयासों में महत्व दिया गया है, उगता हुआ कुल अनुमानित भंडार राष्ट्रीय स्तर पर उग सकने वाले कुल संभावित भंडार का सिर्फ 63% है। हमारा अनुमान है कि 1947 और 1997 के बीच लकड़ी की कुल वार्षिक हानि लगभग तिगुनी हो गई (चित्र 10)। वन उत्पादकता का इन पहलुओं के आधार पर मूल्यांकन सिर्फ इमारती लकड़ी और ईंधन की लकड़ी तक ही सीमित है।

जबकि, भारत के संदर्भ में, लकड़ी के अतिरिक्त अन्य जैव पदार्थ, खास तौर से चारा, एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। पर्यावरण को ठीक-ठाक रखने के लिए आवश्यक कई अन्य सेवाएं भी वन

वनों के ह्रास के कारण 1997 में 45 अरब रुपए की औद्योगिक लकड़ी की हानि हुई



चित्र-10. विकृति के कारण औद्योगिक लकड़ी और ईंधन की लकड़ी में प्रतिवर्ष होने वाली हानि का आर्थिक मूल्य : 1947 और 1997.

प्रदान करते हैं : पेड़ मिट्टी की ऊपरी परत का बचाव करते हैं, वायुमंडल को स्थिर करते हैं, और प्राकृतिक पारिस्थितिक प्रणाली को बनाए रखते हैं, यद्यपि इन सेवाओं का आकलन नहीं किया गया है क्योंकि वे इतने जटिल हैं कि उनका सीधे-सीधे मूल्यांकन नहीं हो सकता है। फिर भी, वनों की विकृति की कीमत आंकने से इस बात को रेखांकित किया जा सकता है कि हानि कितनी अधिक हो चुकी है।

उपसंहार

आजादी के बाद से भारत के वनों पर भीषण दबाव पड़ा है। लकड़ी की मांग और इसकी टिकाऊ आपूर्ति के बीच का अंतर बढ़ता जा रहा है। वनों के बहुत बड़े भाग को कृषि तथा अन्य उपयोगों के लिए काट दिया गया है।

एक ओर वनों का होना पर्यावरण को बनाए रखने के लिए अति आवश्यक है और दूसरी ओर वनों पर अत्यधिक दबाव पड़ रहा है, ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि साधनों के प्रबंधन में आज तक अपनाए गए एक-क्षेत्रीय मार्ग से हट कर एक ऐसे बहु-क्षेत्रीय मार्ग का विकास किया जाए जिसमें बुनियादी सवालों पर प्रभावी एवं समग्र रूप से ध्यान दिया जाता हो।

जैव विविधता

सत्तर के दशक के प्रारम्भ में, जब दक्षिण-पूर्व एशिया में धान की खेती पर ग्रासी स्टंट वायरस का आक्रमण हुआ, उत्तर प्रदेश की एक जंगली धान की प्रजाति 'ओराइजा निवारा' की जीन के कारण इस फसल का बचाव संभव हुआ।

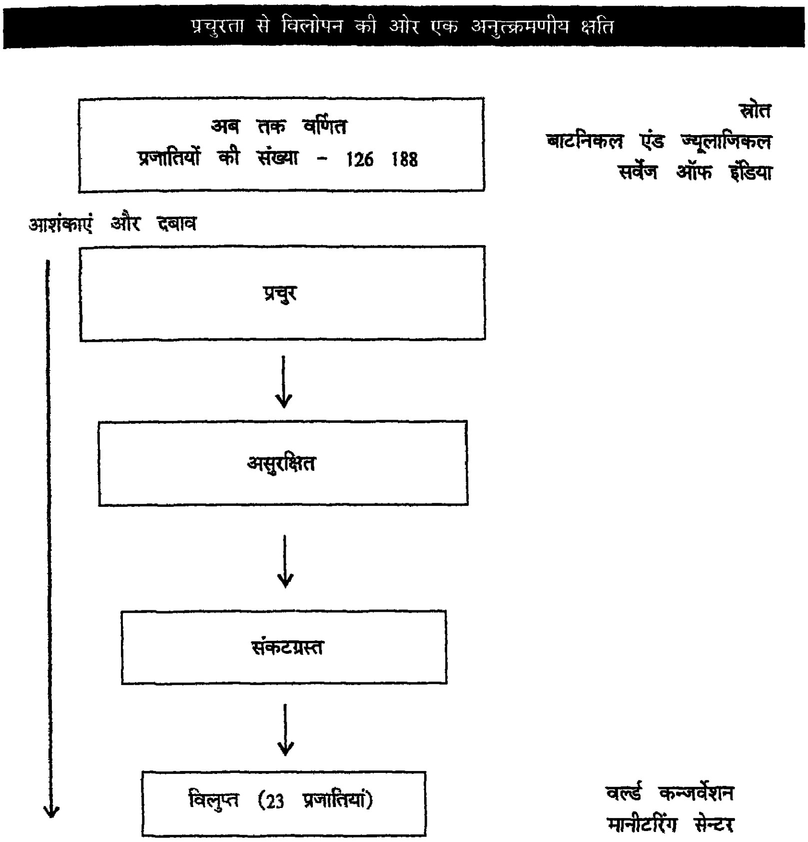
जीवन कई रूपों में पाया जाता है : पौधे घास से लेकर बृहताकार वृक्षों तक होते हैं और जीव छोटे कीड़े-मकोड़ों से लेकर दीर्घकाय हाथी और व्हेल तक होते हैं; जीवन हर जगह पाया जाता है, महासागरों की गहराइयों से लेकर पर्वतों की चोटियों तक और शुष्क रेगिस्तानों से लेकर उष्णकटिबंधी वर्षा वनों तक। पूर्णतः उपयोगितावादी दृष्टि से देखा जाए तो जीवन ऐसे रूपों में निरूपित होता है जो हितकर (जैसे, सदाबहार या पेरिविन्कल, जो जीवन रक्षक औषधि प्रदान करती है) और अहितकर (जैसे कुरारे, जो घातक जहर है) दोनों ही प्रकार का हो सकता है। यही वह विस्तृत रेंज है जिससे जैव विविधता की रचना होती है।

जैव विविधता अर्थात प्राणियों की अनेकरूपता को औपचारिक रूप से इस प्रकार परिभाषित किया जाता है 'स्थलीय, समुद्री और अन्य जलीय पारिस्थितिक तंत्रों समेत सभी स्रोतों के जीवों में एक दूसरे के बीच भिन्नता एवं जिन पारिस्थितिक घटकों के ये हिस्से होते हैं के बीच की विभिन्नता; इसमें प्रजातियों के अंतर्गत विविधता, प्रजातियों के बीच की विविधता, तथा पारिस्थितिक तंत्रों की विविधता सम्मिलित है।' जैव विविधता अनेक फायदे प्रदान करती है, जिनकी प्रायः अनदेखी की जाती है। इसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान है पारिस्थितिक तंत्रों को लचीलापन प्रदान करना।

भारत जैव विविधता की समृद्ध धरोहर वाला देश है, जहां उष्णकटिबंधी वर्षा वनों से लेकर उच्च पर्वतीय वनस्पति तक और शीतोष्ण वनों से लेकर तटीय नम भूमियों के प्राकृतिक वासों की व्यापक विविधता विद्यमान है। विश्व में जैव विविधता के 18 तप्त स्थलों में से 2 भारत में आते हैं : पूर्वी हिमालय और पश्चिमी घाट। इसके अलावा भारत में 26 स्थानिक केंद्रों की भी पहचान की गई है और ये केंद्र अभी तक पहचाने गए व वर्णित समूचे पुष्पी पौधों में से लगभग एक तिहाई के वास स्थल हैं।

जैव विविधता की क्षति

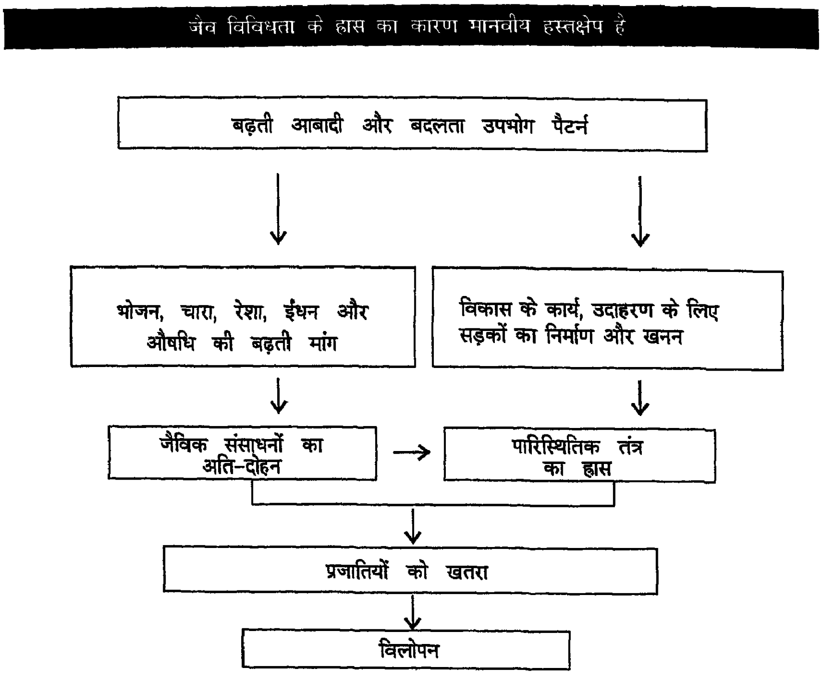
आज की जैविक विविधता साढ़े तीन करोड़ वर्षों से अधिक समय के विकास का परिणाम है, जिसमें जातियों का उद्भव, प्रवसन, विलुप्तीकरण



चित्र 11 भारत में जैव विविधता का ह्रास

और हाल के मानवीय प्रभाव सम्मिलित हैं। फिर भी, पिछले 100 वर्षों में यह लगातार घट रहा है, पहले की तुलना में आज पशुओं और वनस्पतियों की ऐसी प्रजातियां जिन्हें मनुष्य में अपने वातावरण के अनुरूप नहीं ढाला है, कम रह गई हैं, और जो प्रजातियां खो गई वे हमेशा के लिए विलुप्त हो गईं। भारतीय जैविक-विविधता विशेष रूप से अतिसंवेदनशील है क्योंकि इसका एक बड़ा भाग देशज है। चीता, एक सींग वाला लघु गैंडा और गुलाबी सिर वाली बत्तख जैसी 23 प्रजातियों के बारे में मालूम है कि वे विलुप्त हो चुकी हैं और अन्य कई प्रजातियां भी बिना ध्यान आकर्षित किए अदृश्य हो गई होंगी (चित्र 11)। और भी प्रजातियां संकटग्रस्त हैं या विलुप्तीकरण के कगार पर हैं। वनस्पतियों और जंतुओं की करीब 750 प्रजातियां संकटग्रस्त हैं।

बाघों की घटती संख्या ध्यान देने योग्य है। बाघों की संख्या में कमी का स्पष्ट मतलब है, पूरी की पूरी उस पारिस्थितिकी का ह्रास, जिसमें बाघ शीर्षस्थ स्थान पर है। इनकी संख्या 1900 में 40,000 से कम होकर 1972 में 2,000 तक रह गई। तब बाघ परियोजना का



चित्र 12 जैव-विविधता के ह्रास के कारण

आरंभ हुआ, जिसके प्रभाव से बाघों की संख्या घटने की प्रक्रिया रूकी और 1989 तक इनकी संख्या बढ़कर 4,300 तक पहुंच गई। बाघों के लिए राहत थोड़े समय के लिए ही रही और इसके हड्डियों और त्वचा के लिए अवैध शिकार ने इनकी संख्या 1993 में 3,750 कर दी।

जैव-विविधता में ह्रास के कारण

जैव-विविधता में ह्रास के तीन प्रमुख कारण हैं-मानवीय जनसंख्या वृद्धि, उपभोक्तावादी स्तर में वृद्धि और उपयोग की क्षमता में गिरावट (चित्र 12)। इनके कारण पारिस्थितिकी का अत्यधिक दोहन या परिचालन होता है, फिर प्रक्रियाओं की एक श्रृंखला शुरू होती है, जिसका अंत प्रजातियों के विलुप्तीकरण से होता है।

विशेष कारण परिस्थिति-तंत्र पर निर्भर हैं। उदाहरण के तौर पर, विशेष तौर पर भारत के वनों (मुख्य रूप से पश्चिमी घाट के वनों) का दो विश्व युद्धों के दौरान इमारती लकड़ी के लिए अत्यधिक दोहन किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के समय मित्र देशों की सेना के मदद के लिए करीब 2,28,000 टन इमारती लकड़ी की आपूर्ति की गई थी।

पूर्वी हिमालय में प्राकृतिक संपदा के ह्रास का एक प्रमुख कारण 'झूम' या स्थानांतरित की जाने वाली कृषि है। इस क्षेत्र की 70% भूमि पर 'झूम' खेती की जाती है। कुछ विशेषज्ञों का विश्वास है यदि इस

प्रकार की कृषि के लिए पर्याप्त क्षेत्र और भूमि को परती रखने का समय दीर्घकालीन हो तो यह कृषि भी संपोषित करने योग्य है। पर, बढ़ती जनसंख्या के दबाव से भूमि को परती रखने का समय अल्पकालीन हो गया है और यह कृषि सतत विकास योग्य नहीं रह गई है। हाल ही में फारेस्ट सर्वे ऑफ इंडिया के अनुमान से वनों की 57% भूमि 'झूम' खेती के कारण व्यर्थ हो गई है।

तलछटीकरण एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, पर मानवीय गतिविधियों ने इसे तीव्र किया है और अब इससे दलदली भूमि को खतरा पैदा हो गया है। तल्बल नाला के माध्यम से डल झील में प्रतिवर्ष 80,000 टन तलछट एकत्रित होता है, दूसरी तरफ वर्ष 1925 से लगातार चिल्का झील का क्षेत्र तलछटीकरण और सीमांत भूमि का सुधार करने के कारण प्रतिवर्ष 1.5 वर्ग किलोमीटर सिकुड़ जाता है। शैवालीकरण (यूट्रौफिकेशन) दलदली भूमि को प्रभावित करने वाला अन्य प्रमुख कारण है। उदाहरण के तौर पर चिल्का में पोटामोजेटोन पेक्टिनेटस नामक शैवाल की भरमार है। मछलियों के अत्यधिक शिकार के कारण इनकी संख्या में इतनी कमी आ सकती है कि वे आगे उपयुक्त स्तर तक अपनी संख्या नहीं बढ़ा पातीं।

जैव-विविधता में ह्रास के प्रभाव

जैव-विविधता में ह्रास का स्तर और प्रभाव के बारे में हमारा ज्ञान अभी अपर्याप्त है। वर्तमान में चल रहे प्रजातियों के विलुप्तीकरण के भयानक परिणाम से जीव-विज्ञानियों ने आगाह किया है। क्या यह मानव समुदाय के समक्ष सबसे गूढ़, प्रमुख और तत्काल प्रश्न है?

आनुवांशिक और प्रजातियों की विविधता के महत्व पर लगातार चर्चा होती है। जीन-राशि की हरेक जीन, और वनस्पति तथा जंतुओं की प्रत्येक प्रजाति मानव समुदाय के लिए उपयोगी है। विविधता का प्रभाव बीमा की तरह है, क्योंकि यह प्रजातियों के पारिस्थितिकी और आर्थिक कार्यों के लिए पर्यावरणी स्थितियों को व्यापक आधार प्रदान करता है। उदाहरण के तौर पर, 1970 के दशक के शुरू में जब दक्षिण-पूर्व एशिया में चावल पर ग्रासी स्टंट विषाणु का व्यापक प्रकोप हुआ, तब उत्तर प्रदेश के चावल की एक प्रजाति (ओराइजा निवार) के मूल कुल के एक जीन ने उनकी रक्षा की।

उपसंहार

निर्बाध गति से बढ़ती आबादी, उपभोग का स्तर और उपयोग में वृद्धि ने पारिस्थितिकी-तंत्र के अंधाधुंध दोहन और परिचालन को बढ़ावा दिया। इसके परिणामस्वरूप कई प्रजातियां विलुप्त हो चुकी हैं, अनेक विलुप्तीकरण के कगार पर हैं और कई संकट में हैं। हालांकि इस प्रकार के हानि के प्रभाव का मूल्यांकन कठिन है, पर यह स्पष्ट है कि सतत आर्थिक विकास पारिस्थितिकी-तंत्र की स्थिरता से ही आरंभ

होता है। पारिस्थितिक तंत्र में स्थिरता उस पर बढ़ते दबाव को कम कर या जैव-विविधता की रक्षा कर समुत्थान-शक्ति को बढ़ाकर लाई जा सकती है।

वायु प्रदूषण

बढ़ती आबादी, गरीबी और ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ ईंधनों की अनुपलब्धता के कारण जैव ईंधनों का प्रयोग चल रहा है, इस कारण 90% ग्रामीण आबादी और 35% शहरी आबादी घरेलू वायु प्रदूषण से अभिशप्त हैं।

वायु प्रदूषण की औपचारिक परिभाषाओं में से एक इस प्रकार है : "वायुमंडल में एक या एक से अधिक संदूषकों की इतनी मात्राओं में और इतनी अवधि तक मौजूदगी जो मानव स्वास्थ्य या कल्याण के लिए, जंतुओं या वनस्पतियों के जीवन के लिए या संपत्ति के लिए हानिकारक हो या हानिकारक प्रवृत्ति वाली हो अथवा जीवन के आनंद या संपत्ति में अनुचित हस्तक्षेप करती हो।" मुख्य प्रदूषक हैं : कणिकीय पदार्थ (पार्टिकुलेट मैटर), सल्फर डाइआक्साइड (SO_2), नाइट्रोजन के आक्साइड (NO_x), कार्बन मोनोआक्साइड (CO), हाइड्रोकार्बन (HC), प्रकाश रसायनिक आक्सीकारक (जैसे ओजोन (O_3)), धातुएं (जैसे सीसा) तथा अन्य गैसें और वाष्पें।

केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, नई दिल्ली ने 1984 में राष्ट्रीय परिवेशी वायु गुणवत्ता प्रबोधन कार्यक्रम (नेशनल एम्बीएंट एयर क्वालिटी मॉनीटरिंग प्रोग्रेम) की शुरूआत की और इसके अंतर्गत 7 शहरों में 28 केंद्र खोले गए। अब तक 92 शहरों और कस्बों में ऐसे 290 केंद्र खोले जा चुके हैं। औद्योगिक, आवासीय और संवेदनशील क्षेत्रों के लिए विभिन्न प्रदूषकों के अनुसार परिवेशी वायु गुणवत्ता मानक निर्धारित किए गए हैं। ये मानक सुरक्षित सीमाओं के रूप में हैं, जिनको पार नहीं करना चाहिए और इन्हें एक घनमीटर वायु में प्रदूषक की मात्रा (माइक्रोग्राम में) में अभिव्यक्त किया गया है।

वायु की गुणवत्ता में गिरावट

सन् 1994 में 62 शहरों में विभिन्न प्रतिदर्शी स्थलों (सैम्पलिंग लोकेशंस) में वायु प्रदूषण के दर्जे का विश्लेषण यह जानने के लिए किया गया कि तीन प्रमुख प्रदूषक — कणिकीय पदार्थ, सल्फर डाइआक्साइड और नाइट्रोजन डाइआक्साइड में प्रत्येक कितनी मात्रा में हवा में मौजूद है। विश्लेषण से पता चला कि कणिकीय पदार्थ से जनित प्रदूषण काफी व्यापक और गंभीर था जबकि सल्फर डाइआक्साइड तथा नाइट्रोजन डाइआक्साइड जनित प्रदूषण कुछ ही शहरों में गंभीर रूप लिए था। इस विश्लेषण की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं

- 62 में से 60 शहरों में हवा में कणिकीय पदार्थ की मात्रा विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिशा-निर्देशों के अनुसार सुरक्षित मानी जाने वाली सीमा से अधिक थी। 14 शहरों की तो ऐसी स्थिति थी कि उनमें कणिकीय पदार्थ के स्तर इतने अधिक थे कि वे औद्योगिक क्षेत्रों के लिए निर्धारित सुरक्षित सीमाओं को भी पार कर गए थे। (औद्योगिक क्षेत्रों के लिए निर्धारित सुरक्षित सीमाएं आवासीय क्षेत्रों की ऐसी सीमाओं के मुकाबले में अधिक होती हैं।)
- तीन शहरों — गाजियाबाद (उ.प्र.), हावड़ा (पश्चिम बंगाल) और अंकलेश्वर (गुजरात) में हवा में सल्फर डाइआक्साइड की मात्रा आवासीय क्षेत्रों के लिए निर्धारित सुरक्षित सीमाओं से अधिक पाई गई। 25 शहरों में सल्फर डाइआक्साइड के स्तर काफी कम पाए गए।
- तीन शहरों — हावड़ा (पश्चिम बंगाल), अलवर (राजस्थान) और कोटा (राजस्थान) में आवासीय क्षेत्रों में नाइट्रोजन के आक्साइडों के लिए निर्धारित मानकों का पालन नहीं किया गया था; अन्य 6 शहरों में इसके स्तर निर्धारित सीमाओं के काफी नजदीक थे।

वायु-गुणवत्ता की सूची बताती है कि कोई 20 शहरों में वायु की गुणवत्ता 'खतरनाक' थी और कोई 14 शहरों में वायु गुणवत्ता 'खराब' थी (तालिका-4)।

तालिका-4 वायु गुणवत्ता सूची के अनुसार शहरों का वर्गीकरण

खतरनाक	खराब	घटिया	ठीक	अच्छी
हावड़ा	फरीदाबाद	वापी	पोंटा साहिब	तूतीकोरिन
गाजियाबाद	भिलाई	हल्दिया	चेन्नई	कोयम्बटूर
अलवर	सतना	पटना	कोट्टयम	दमन
अंकलेश्वर	अहमदाबाद	चन्दरपुर	औरंगाबाद	सिल्वासा
झरिया	मुंबई	तेल्चर	पौंडा	वास्को
सूरत	इंदौर	यमुनानगर	मैसूर	कोझीकोड
दिल्ली	जबलपुर	भोपाल	नासिक	गुवाहाटी
राजकोट	राउरकेला	चंडीगढ़	तिरूवनंतपुरम्	
पटियाला	जयपुर	अंगुल	शिमला	
कलकत्ता	वाराणसी		हैदराबाद	
लुधियाना	पांडिचेरी		नागपुर	
आगरा	रायपुर		कोचीन	
कानपुर	पुणे			
लखनऊ				
बड़ौदा				
जालंधर				
धनबाद				
सिंदरी				
कोटा				
कोरबा				

ये आंकड़े केवल बाहरी (आउटडोर) प्रदूषण को दर्शाते हैं। ग्रामीण इलाकों और गंदी बस्तियों में अंदरूनी (इनडोर) प्रदूषण के स्तर बहुत अधिक हैं। रसोईघरों में जैव ईंधनों को जलाने से उत्पन्न कणिकीय पदार्थों की सांद्रता विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिशा निर्देशों से तीस गुना ज्यादा पाई गई।

वायु की गुणवत्ता में गिरावट के कारण

वायु प्रदूषण एक समस्या है, जो आर्थिक विकास और गरीबी—दोनों ही कारणों से उपजती है। भारत जैसे-जैसे विकसित होता गया, यहां शहर भी फैलते गए और बढ़ते औद्योगिक उत्पादन व यातायात का मतलब हुआ प्रदूषण का बढ़ना। बढ़ती आबादी, गरीबी और ग्रामीण इलाकों में साफ ईंधन के लिए पूरी पहुंच न होने से जैव पदार्थ ईंधनों (बायोमास फ्युअल्स) के इस्तेमाल का सिलसिला जारी रहा। इसके कारण 90% से अधिक ग्रामीण परिवार और 35% से ज्यादा शहरी परिवार उच्च स्तरों के अंदरूनी वायु प्रदूषण को झेल रहे हैं।

वायु प्रदूषण के मुख्य स्रोत इस प्रकार हैं :

यातायात भारत में आजादी के बाद से मोटर वाहनों के कुल उत्सर्जन यानी उनके द्वारा छोड़े गए धुएं की मात्रा में 68 गुना वृद्धि हो चुकी है। सन् 1947 में देश में मोटर वाहनों की संख्या 20 लाख थी जो 1997 में 3.63 करोड़ जा पहुंची। मोटे तौर पर देश के कुल मोटर वाहनों का तिहाई हिस्सा 23 शहरों में केंद्रित है। खासतौर पर दिल्ली में मोटर वाहनों की संख्या तेजी से बढ़ रही है; अभी देश के कुल पंजीकृत मोटर वाहनों में से 8% दिल्ली में हैं। पूरे देश में मोटर वाहनों के बेड़े के संघटन में भी नाटकीय बदलाव आया है : सन् 1951 में जहां मोटरसाइकिलों, स्कूटरों तथा इसी तरह के दुपहिया वाहनों की संख्या कुल मोटर वाहनों की संख्या का 9% थी वहीं 1995 में यह आंकड़ा बढ़कर 69% हो गया। इसी अवधि में बसों का हिस्सा 11% से घटकर 1.4% हो गया। पुराने मोटर वाहनों, दो-स्ट्रोक इंजनों, घने यातायात, खराब सड़कों तथा पुरानी हो चुकी मोटर वाहन-प्रौद्योगिकियों और यातायात प्रबंधन प्रणालियों ने इस स्थिति को और जटिल बना दिया है। डीजल से चलने वाले भारी वाहन नाइट्रोजन के आक्साइड और कणिकीय पदार्थ ज्यादा मात्रा में छोडते हैं जबकि पेट्रोल चालित हल्के वाहन (मोटरसाइकिल समेत) कार्बन मोनोआक्साइड, हाइड्रोकार्बन और सीसे को ज्यादा मात्राओं में छोड़ते हैं।

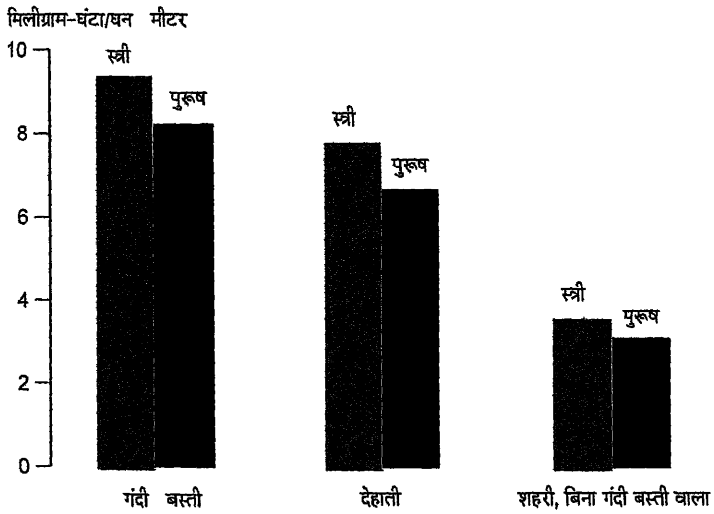
विद्युत संयंत्र आजादी के बाद से लेकर अब तक ताप विद्युत घरों के कुल उत्सर्जनों में 48 गुना वृद्धि हो चुकी है। सन् 1997 में, देश की विद्युत उत्पादन क्षमता में 70% का योगदान ताप विद्युत घरों का रहा, चूंकि भारतीय कोयला घटिया गुणवत्ता का होता है (इसमें 35% - 40% तक राख होती है।), इसलिए यह बड़ी मात्रा में कणिकीय पदार्थ मुक्त करता है और इसके कारण वैद्युत स्थैतिक अवक्षेपित्रों (इलेक्ट्रोस्टैटिक

प्रिसिपिटेटर्स) का प्रचालन और कठिन हो जाता है।

उद्योग लोहा तथा इस्पात, सीमेंट, चीनी, उर्वरक, कागज तथा कागज-बोर्ड, तांबा और एल्युमिनियम के उद्योगों से उत्सर्जित होने वाले कणिकीय पदार्थ की मात्रा में 15 गुना वृद्धि हुई। प्रदूषण के एक असंगत हिस्से के लिए कुछ औद्योगिक उप-क्षेत्र जिम्मेदार हैं। उदाहरण के तौर पर, भारत में पेट्रोलियम रिफाइनरियां, वस्त्र उद्योग, लुगदी तथा कागज और औद्योगिक रसायन के कारखानों का औद्योगिक उत्पादन में 27% का योगदान है और नाइट्रोजनों के उत्सर्जनों में इनकी 70% की हिस्सेदारी है। इसी प्रकार लोहा तथा इस्पात और अधात्विक खनिज (नान-मेटालिक मिनरल) उत्पादों का औद्योगिक उत्पादन में 16% का योगदान है लेकिन कणिकीय पदार्थों की कुल उत्सर्जित मात्राओं के 55% हिस्से के लिए ये जिम्मेदार हैं।

जैव-ईंधन आधारित रसोई लकड़ी, फसल-अवशिष्ट और उपले जैसे जैव ईंधन अभी भी अधिकांश लोगों, खासतौर पर गरीबों के लिए ऊर्जा के बुनियादी स्रोत बने हुए हैं। इन ईंधनों से बड़ी मात्रा में कणिकीय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जो ज्यादातर घरों आदि के भीतर पैदा होते हैं। इसके अलावा इन घरों में हवा की आवाजाही की ठीक व्यवस्था न होने से इन ईंधनों के कारण उत्पन्न प्रदूषण के प्रभाव विशेषकर गंभीर हो जाते हैं।

अंदरूनी वायु प्रदूषण का सबसे अधिक शिकार औरतें होती हैं; गंदी बस्ती में रहने वाले सर्वाधिक प्रभावित होते हैं



चित्र 13 : कणिकीय पदार्थ का औसतन प्रभाव

वायु गुणवत्ता में गिरावट के प्रभाव

प्रदूषण के प्रभावों के मूल्यांकन हेतु, हमने कणिकीय पदार्थ का प्रदूषणकारी तत्व के तौर पर चयन किया जिसके साथ मूल्यांकन की विधि बताई गई है। इसके अतिरिक्त, हमने महज परिवेशी वायु में प्रदूषणकारी तत्वों की सांद्रता के बदले प्रदूषणकारी तत्व के प्रभाव की तीव्रता को आधार बनाया, जिससे अंदरूनी और बाहर के वायु प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव का उचित मूल्यांकन किया जा सके। हमारे अनुमान में, राष्ट्रीय स्तर पर अंदरूनी और बाहर के प्रदूषण का प्रभाव भयंकर है-1997 में 25 लाख व्यक्तियों की असमय मृत्यु हुई। सामान्य धारणा के विपरीत वायु प्रदूषण केवल बड़े शहरों तक ही सीमित नहीं है। भारत की करीब तीन-चौथाई आबादी, जो ग्रामीण है, वायु प्रदूषण का 84% बोझ वहन करती है।

इन स्वास्थ्य प्रभावों का आकलन पूरे देश के लिए और विभिन्न जनसंख्या समूहों पर किया गया है। यदि वायु गुणवत्ता से संबंधित दिशानिर्देशों पर ध्यान दिया जाए तो प्रतिवर्ष शहर के प्रत्येक निवासी को 600 से 1500 रुपए के बीच आर्थिक लाभ होगा, जब कि झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों के लिए यह लाभ 2000 से 7400 रुपए के बीच होगा (चित्र 13)। सर्वाधिक प्रभावित वर्ग उन महिला श्रमिकों का है जो झुग्गी-झोपड़ी में रहती हैं-वे केवल बाहर कार्यस्थल पर ही प्रदूषित वायु में सांस नहीं लेती, बल्कि खाना पकाने के समय भी उसी माहौल में रहती हैं। महिलाओं के बाद का प्रभावित वर्ग शिशुओं का है क्योंकि वे अपनी मां के साथ अधिकतर समय बिताते हैं।

उपसंहार

आर्थिक विकास और गरीबी, दोनों से ही वायु प्रदूषण उत्पन्न होता है। शहरों में बाहरी (आउटडोर) प्रदूषण के अत्यधिक ऊंचे स्तरों के लिए बढ़ता यातायात और औद्योगिक विस्तार जिम्मेदार है। देश के कोई बीस शहरों में तो वायु की गुणवत्ता इतनी खराब है कि उसे खतरनाक श्रेणी में गिना जा सकता है। तथापि आर्थिक विकास लोगों को मिट्टी का तेल जैसे अपेक्षाकृत साफ ईंधन भी मुहैया कराता है और इस प्रकार अंदरूनी प्रदूषण को कम करता है तथा महिलाओं और शिशुओं को सांस के साथ उन प्रदूषकों को ग्रहण करने से बचाता है, जो जैव ईंधनों को जलाने से उत्पन्न होते हैं। हमें अंदरूनी और बाहरी प्रदूषण से एक साथ जूझने की आवश्यकता है।

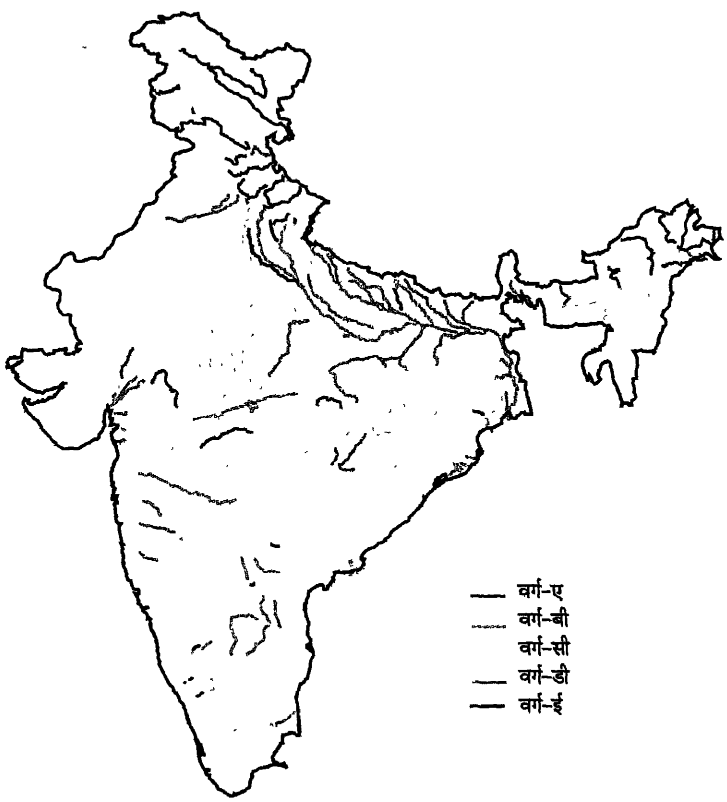
जल प्रदूषण

असम की इलंगाबील झील और कर्नाटक की उलसूर झील के पानी में जैव रसायनिक आक्सीजन मांग, अधिकतम मान्य सीमा से सातं गुना अधिक है।

भारत के जल संसाधनों में 113 नदियों के जलग्रहण क्षेत्र हैं, जिसमें 14 बड़ी, 44 मध्यम और शेष 55 लघु हैं। बड़े जलग्रहण क्षेत्र ब्रह्मपुत्र, गंगा, सिंधु, गोदावरी, कृष्णा, महानदी, नर्मदा, कावेरी, ब्राह्मणी, ताप्ती, माही, स्वर्णरेखा, पैन्नार और साबरमती नदियों के हैं।

नदी जल की गुणवत्ता का आकलन विभिन्न कार्यक्रमों, जैसे भारतीय राष्ट्रीय जल संपदा प्रबोधन (मिनार्स), विश्व पर्यावरणीय प्रबोधन तंत्र (जेम्स) और गंगा कार्य योजना (गैप) के तहत किया जाता है। इन कार्यक्रमों के अंतर्गत कई भौतिक, रासायनिक और जैविकीय (इसमें बैक्टीरिया से संबंधित परीक्षण सम्मिलित हैं) पैरामीटर का आकलन किया जाता है, पर इसमें जैव रासायनिक आक्सीजन मांग (बी.ओ.डी), घुलित आक्सीजन (डी.ओ) और कुल कोलीफार्म गणना (टी.सी) प्रमुख हैं। इन कार्यक्रमों में भारी धातुओं को सम्मिलित नहीं किया गया है।

भारत की अधिकांश नदियों का पानी पीने योग्य नहीं है



चित्र 14 : भारत के बड़े नदी तंत्रों में जल-गुणवत्ता की स्थिति

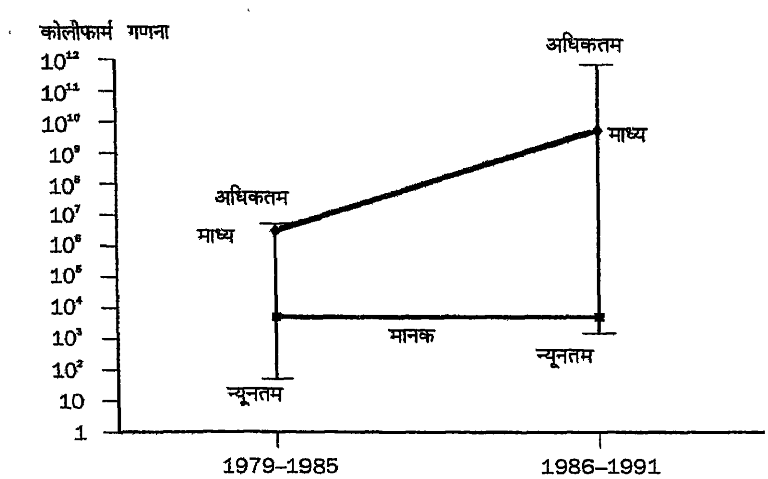
जल की गुणवत्ता को अंत के उपयोग-जैसे नहाना, पीना इत्यादि-के अनुसार बताया जाता है, जिसके लिए जल उपयुक्त समझा जाता है। जल गुणवत्ता की श्रेणियां और उनके उपयोग निम्नलिखित हैं:

वर्ग ए : पारम्परिक उपचारण के बिना, पर जीवाणुनाशन के बाद पीने योग्य

वर्ग बी : नहाने, तैरने और जलक्रीड़ा योग्य

वर्ग सी : पारम्परिक उपचारण के बाद पीने योग्य

तेजी से बढ़ती कोलीफार्म गणना पानी के मल-जल द्वारा दूषित होने की परिचायक है



चित्र 15 कुल कोलीफार्म गणना के संदर्भ में जल गुणवत्ता : 1979-85 और 1986-91

वर्ग डी : वन्यजीव संवर्धन और मत्स्यपालन इत्यादि योग्य

वर्ग ई : सिंचाई, औद्योगिक शीतकरण और नियंत्रित अपशिष्ट विसर्जन योग्य

जल-गुणवत्ता में गिरावट

भारतीय नदियों के अधिकतर हिस्सों के जल की गुणवत्ता 'सी' वर्ग की है (चित्र 14) और कुछ में 'डी' वर्ग के गुण हैं।

भारत की नदियों में जल की गुणवत्ता कैसे बदल रही है? जल प्रदूषण का एक सूचक, कुल कोलीफार्म गणना, के औसत मान में 1979 से 1991 के बीच तीव्र वृद्धि हुई, और मानकों का निरंतर उल्लंघन हुआ (चित्र 15)। हालांकि जल प्रदूषण के दूसरे संकेतक, बी.ओ.डी. का औसत मान लगभग स्थिर रहा, पर 1980 के मुकाबले 1991 में अपेक्षाकृत अधिक केंद्रों पर अधिकतम सीमा का उल्लंघन हुआ।

सर्वाधिक प्रभावित नदियां, साबरमती और खान रहीं, जिनमें बी.ओ.डी. मान 20 मिलीग्राम प्रति लीटर से अधिक था। हालांकि गंगा कार्य योजना के शुरू होने के बाद से गंगा के जल की गुणवत्ता में सुधार हुआ है, पर बी.ओ.डी. का औसत मान अभी भी 'सी' वर्ग की तुलना में अधिक है। दिल्ली, सहारनपुर, कानपुर, अहमदाबाद, कोटा और वाराणसी के पास विभिन्न नदियों का खंड इतना प्रदूषित हो चुका है कि उनकी स्थिति खुले नाले से थोड़ी ही बेहतर है। झीलों की हालत भी इतनी ही बुरी है-असम की इलंगाबील झील और कर्नाटक की उलसूर झील के पानी में बी.ओ.डी. की मात्रा उच्चतम मान्य सीमा से सात गुना अधिक है।

भूजल की प्रमुख समस्या इसका नवीनीकरण क्षमता से अधिक उपयोग तथा भूमि से रिसकर पहुंचता प्रदूषण है। 1994 में जब केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने 22 औद्योगिक क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया, तब निष्कर्ष निकला कि इनमें कहीं भी पानी पीने योग्य नहीं था। निम्नलिखित सूची से स्पष्ट होता है कि इनमें से कुछ क्षेत्रों की स्थिति अत्यधिक शोचनीय है।

- धनबादः पारा, क्रोमियम, लौह, और मैगनीज तथा अम्लता
- हावड़ाः बैक्टीरिया, घुलनशील ठोस की उच्च सांद्रता, डी.डी.टी. जैसे कीटनाशक।
- दुर्गापुरः विषैले धातु और कीटनाशक
- कोरबाः पारा, सीसा, लौह, निकेल, जस्ता, आर्सेनिक, तांबा, क्रोमियम और मैगनीज
- सिंगरौलीः फ्लोराइड और रेड मड

जल प्रदूषण के स्रोत

वर्तमान में भारत में जल प्रदूषण के प्रमुख स्रोत शहरी मल-जल और औद्योगिक निस्राव हैं। शहरी मल-जल की मात्रा 1947 में करीब 5 अरब लीटर प्रतिदिन से बढ़कर 1997 के 30 अरब लीटर प्रतिदिन हो गई। मल-जल के उपचारण की सुविधाएं पूरी तरह से अपर्याप्त हैं-केवल 10% मल-जल का उपचारण किया जाता है। जहां यह सुविधा मौजूद है, वे अपर्याप्त कार्य करते हैं, क्योंकि इनका प्रारूप, प्रबंधन और रखरखाव उचित नहीं होता।

औद्योगिक निस्राव द्वारा जल प्रदूषण कुछ स्थानों तक ही सीमित है। औद्योगिक क्षेत्र से होने वाले प्रदूषण में 40-45% योगदान रसायन उद्योगों का है। यदि केवल कार्बनिक पदार्थों से होने वाले प्रदूषण पर ध्यान दें, तो 40% प्रदूषण खाद्य उद्योग द्वारा उत्पन्न होता है। कृषि पर आधारित उद्योग, तेल-शोधक संयंत्र, पेट्रोरसायन उद्योग, उर्वरक और रासायनिक उद्योगों में अत्यधिक मात्रा में जल का उपयोग किया जाता है। 1947 में उपरोक्त उद्योगों में प्रतिदिन 10 करोड़ लीटर जल की खपत थी, 1997 तक इनमें 4 अरब लीटर जल की आवश्यकता पड़ने लगी। और इन उद्योगों से उत्पन्न निस्राव की मात्रा भी इसी तरह 7

करोड़ लीटर प्रतिदिन से बढ़कर 3 अरब लीटर तक पहुंच गई। सर्वाधिक प्रभावित राज्य, उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु हैं। प्रदूषण नियंत्रण के प्रयास अपर्याप्त हैं : गंगा के जल ग्रहण क्षेत्र में स्थित 426 बड़े और मझोले वर्ग की प्रदूषण उत्पन्न करने वाली औद्योगिक इकाईयों में से करीब एक-चौथाई में प्रदूषण नियंत्रण की सुविधाएं अपर्याप्त हैं।

लघु इकाईयों में जिस प्रकार की उत्पादन प्रक्रिया और विधि का प्रयोग किया जाता है, उससे उत्पाद की प्रत्येक इकाई अधिक मात्रा में प्रदूषण उत्पन्न करती है। हालांकि लघु उद्योग आजादी के पहले भी स्थापित थे, पर इनकी संख्या में 1970 के बाद तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। 1971 में 2.4 लाख लघु उद्योग पंजीकृत थे, 1993 में इनकी संख्या 17.8 लाख पहुंच गई। परंपरागत शिल्प और संस्कृति के आधार पर कुछ राज्यों में लघु उद्योगों के बड़े समूह हैं। आंध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, पंजाब, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में इनकी पंजीकृत संख्या प्रत्येक में 1 लाख से अधिक है। लघु उद्योगों के अधिकतर समूह ने सामूहिक निस्त्राव उपचार संयंत्र को पसंद किया है, पर अधिकतर ऐसे संयंत्र काम नहीं करते।

जल प्रदूषण का एक उभरता स्त्रोत अत्यधिक निवेश वाली कृषि है। अत्यधिक उर्वरक के प्रयोगों ने उथले भू-जल स्त्रोतों में नाइट्रेट की मात्रा को बढ़ाया है। हरियाणा के महेंद्रगढ़ जिले के कुओं में नाइट्रेट की मात्रा 1310 मिलीग्राम प्रति लीटर तक पहुंच गई। हावड़ा जिले में अत्यधिक निवेश वाली कृषि ने भूजल में डी.डी.टी जैसे कीटनाशकों का प्रकोप बढ़ाया है।

जल प्रदूषण का प्रभाव

मर्रे और लोपेज ने अनुमान किया है 1990 में भारत में 9% मृत्यु और 9.5% विकलांगता-ग्रस्त आयु का कारण खराब जल आपूर्ति और स्वच्छता और अपर्याप्त व्यक्तिगत और घरेलू सफाई है। विश्व बैंक के अनुसार इन स्वास्थ्य समस्याओं से आर्थिक संदर्भ में 107 से 290 अरब रुपयों की हानि होती है।

मलजल और औद्योगिक निस्त्राव के कारण बढ़ते जल प्रदूषण के परिणामस्वरूप सुरक्षित जल आपूर्ति का लागत मूल्य बढ़ा जाता है। हमारा अनुमान है कि सुरक्षित जल आपूर्ति और पर्याप्त स्वच्छता सुनिश्चित करने के लिए लागत मूल्य में वार्षिक वृद्धि 122 अरब रुपए हैं, इनका आवंटन इस प्रकार है : 60% पर्याप्त स्वच्छता उपलब्ध कराने हेतु, 15% जल आपूर्ति हेतु और शेष 25% मल-जल और निस्त्राव के उपचारण हेतु।

उपसंहार

अनेक भारतीय नदियों और झीलों की स्थिति खुले नाले से थोड़ी

ही बेहतर है। कुछ स्थानों पर भू-जल भी प्रदूषण की चपेट में है। भारत में जल प्रदूषण के मुख्य स्रोत शहरों द्वारा उत्पन्न मल-जल-जिसका एक बड़ा भाग अनुपचारित रहता है, औद्योगिक निस्त्राव और कृषि द्वारा उत्पन्न दूषित पानी की बढ़ती मात्रा है। जल प्रदूषण के स्वास्थ्य पर बढ़ते प्रभाव को कम करने के लिए भारी लागत की आवश्यकता पड़ेगी।

ठोस अपशिष्ट

शहरों द्वारा उत्पन्न एक-चौथाई ठोस कचरा एकत्रित नहीं किया जाता है; 70% भारतीय शहरों में कचरे के परिवहन की पर्याप्त सुविधा नहीं है; और कचरे के निपटान हेतु बनाए गए सुरक्षित निपटान स्थलों पर पर्याप्त सुविधाओं और उचित प्रबंधन का अभाव है।

ठोस अपशिष्ट वह पदार्थ है, जो समाज द्वारा बेकार और अनुपयोगी मानकर फेंक दिया जाता है। व्यापक तौर पर देखें तो ठोस कचरा घरों से उत्पन्न अनेक प्रकार के व्यर्थ पदार्थों का समूह भी है और कृषि, उद्योग और खनन से उत्पन्न एक जैसा पदार्थ भी है। यहां केवल दो वर्ग के ठोस कचरे का वर्णन किया गया है, शहरी ठोस कचरा और औद्योगिक अपशिष्ट। शहरी ठोस कचरे को एकत्र कर निपटान का कार्य नगर निकाय करते हैं, जबकि औद्योगिक अपशिष्ट का प्रबंधन संबंधित उद्योग करते हैं।

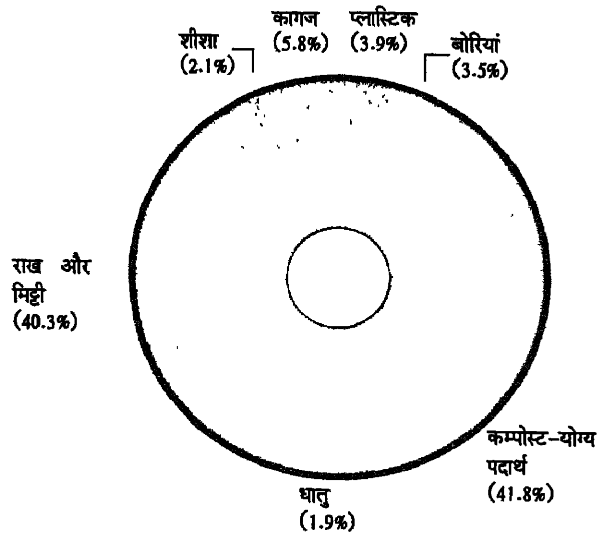
कचरे का वर्गीकरण-खतरनाक कचरा और असंकटमय कचरे के तौर पर किया जाता है। असंकटमय कचरे की भी दो श्रेणियां हैं: जैव-विखंडित और अजैव-विखंडित कचरा।

ठोस अपशिष्ट की मात्रा और संयोजन

शहरी ठोस अपशिष्ट, घरों, वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों और बाजारों से उत्पन्न होने वाले कागज, प्लास्टिक, कपड़ा, धातु, काँच और कार्बनिक पदार्थों का विषम मिश्रण है (चित्र 16)। शहरीकरण बढ़ने और रहन-सहन के स्तर तथा पसंद में परिवर्तन के कारण शहरी ठोस अपशिष्ट की मात्रा बढ़ रही है और संयोजन भी बदल रहा है। 1947 में शहरों और कस्बों ने 60 लाख टन ठोस अपशिष्ट उत्पन्न किया, 1997 में इसकी मात्रा 4.8 करोड़ टन थी।

अस्पतालों तथा नर्सिंग होम से उत्पन्न कचरे को अलग से एकत्रित कर उपचारित करने की आवश्यकता है, पर अधिकतर शहरों और कस्बों में ये शहरी ठोस कचरे का ही हिस्सा हैं। अस्पतालों के कचरे

कचरे से सम्पदा का पहला चरण इसके अवयवों को अलग करना है



चित्र 16 शहरी ठोस कचरे के अवयव : 1995

में संक्रमित पदार्थ, जैसे विच्छेदित शरीर के अंग, शरीर का द्रव, रोग वाले जीवाणुओं के संवर्ध, अत्यधिक संक्रामक रोग से ग्रस्त मरीजों के मल इत्यादि मौजूद रहते हैं। इसमें आपरेशन कक्ष और प्रयोगशालाओं से उत्पन्न चिमटी, सूई, पट्टियां और अन्य व्यर्थ पदार्थ भी रहते हैं। अस्पतालों से उत्पन्न होने वाले कुल कचरे में से 47.2% रोग के जीवाणुओं से संक्रमित रहता है, जो इसे खतरनाक जैव-चिकित्सीय कचरा बना देता है। 1997 में अनुमान है कि अस्पतालों द्वारा प्रतिवर्ष 15 लाख टन कचरा उत्पन्न किया जाता है।

उद्योगों द्वारा भारी मात्रा में कचरा उत्पन्न किया जाता है-प्रतिवर्ष 10 करोड़ टन ठोस अपशिष्ट और 20 लाख टन खतरनाक कचरा (तालिका-5)।

तालिका 5 1997 में चुनिंदा उद्योगों द्वारा ठोस कचरे का उत्पादन

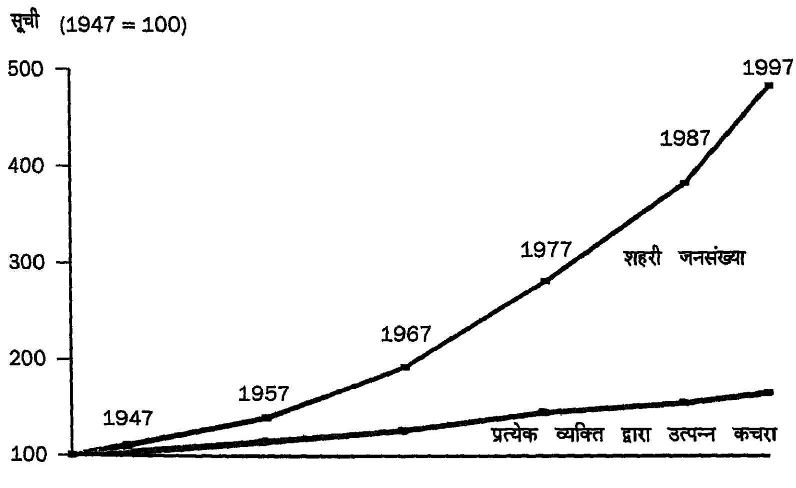
ठोस कचरा	*मात्रा (लाख टन प्रतिवर्ष)*
फ्लाई ऐश	450
स्लैग	85
फास्फोजिप्सम	50
लाईम स्लज	40
रेड मड	35

खतरनाक अपशिष्ट वे हैं, जो या तो वनस्पति और जंतुओं के लिए विषाक्त हैं, या ज्वलनशील, क्षयकारी, विस्फोटक या अत्यधिक क्रियाशील रसायन हैं। ऐसे खतरनाक अपशिष्ट के उदाहरण हैं-सायनाइडयुक्त कचरा, ऐस्बेस्टस और अम्लीय या क्षारीय कचरा। खतरनाक अपशिष्ट उत्पन्न करने में धातु, रसायन, शोधन, दवा और औषधि, चर्म, लुगदी और कागज, इलैक्ट्रोप्लेटिंग, कीटनाशक, रंजक और रबर-सामग्री उद्योगों का महत्वपूर्ण योगदान है।

ठोस अपशिष्ट में वृद्धि के कारण

ठोस अपशिष्ट की मात्रा और संरचना को कई कारक प्रभावित करते हैं। इसमें जीवनशैली, संस्कृति, खाद्य संबंधी आदतें, जलवायु और वाणिज्यिक तथा औद्योगिक गतिविधियां सम्मिलित हैं। केवल शहरी आबादी ही नहीं बढ़ी है, बल्कि हरेक व्यक्ति पहले से अधिक मात्रा में कचरा भी उत्पन्न करता है-1947 से 1997 के बीच शहरी आबादी में पांच गुना वृद्धि हुई है और प्रतिव्यक्ति कचरा उत्पन्न करने की दर भी 50% बढ़ी है, 1947 में यह मात्रा 295 ग्राम प्रतिदिन थी और 1997 में 490 ग्राम प्रतिदिन (चित्र 17)। कचरे का निपटान मुश्किल है-औसत भारतीय शहरी घरों में प्लास्टिक के सामानों का प्रचलन

अधिक व्यक्ति-और प्रत्येक व्यक्ति पहले से ज्यादा कचरा उत्पन्न कर रहा है



चित्र 17 शहरी आबादी और प्रति व्यक्ति ठोस कचरे के उत्पादन के सूचक : 1947 से 1997

पहले की अपेक्षा अधिक है तथा ये ग्रामीण इलाकों में भी लोकप्रिय हो रहे हैं। पिछले दस वर्षों के दौरान प्लास्टिक का उत्पादन और खपत दस-गुना बढ़ा है और 1960 और 1995 के बीच यह वृद्धि 70 गुना से भी अधिक है।

ठोस कचरे का संग्रहण, परिवहन और निपटान अवैज्ञानिक और बेतरतीब है। एक-चौथाई से अधिक कचरे को एकत्रित ही नहीं किया जाता, 70% भारतीय शहरों में इनके परिवहन का पर्याप्त साधन नहीं है और सुरक्षित लैण्डफिल, जहां कचरे का निपटान किया जाता है, साधनहीन और दक्ष प्रबंधन के अभाव से ग्रस्त हैं। लैण्डफिल क्षेत्रों में विषैले पदार्थों से युक्त द्रव रिसकर मृदा और जल को प्रदूषित करता है। लैण्डफिल में सड़ते कार्बनिक पदार्थों से ऊर्जा का एक उपयोगी श्रोत, मीथेन गैस, उत्पन्न होती है, पर इसमें से अल्प मात्रा का ही उपयोग किया जाता हैं इस तरह लैण्डफिल क्षेत्र, संसाधन उत्पन्न करने में तो असफल है ही, उपयोगी भूमि को भी हड़प लेते हैं। 1997 में 200 वर्ग किलोमीटर से अधिक क्षेत्र में लैण्डफिल व्याप्त हैं।

ठोस अपशिष्ट में वृद्धि के प्रभाव

सारे सबूत यह स्पष्ट करते हैं कि खराब कचरा प्रबंधन व रोगों और महामारी से लेकर रोगवाहकों द्वारा फैलाये जाने वाले विकारों में वृद्धि और भू-जल पर प्रदूषण के दुष्प्रभाव का गहरा संबंध है, जिससे आबादी का सभी वर्ग प्रभावित होता है। स्वास्थ्य पर खतरे का वर्गीकरण निम्नलिखित तरीके से किया जा सकता है-

- कचरा निपटान में संलग्न श्रमिकों के मामले में कचरे से सीधा संपर्क।
- कचरे से पुनः चक्रित किए जा सकने वाले पदार्थों की तलाश में घूमते कचरा बीनने वालों का कचरे से सीधा संपर्क।
- लैण्डफिल क्षेत्रों के बेकार प्रबंधन द्वारा मृदा, वायु और जल के दूषित होने का अप्रत्यक्ष प्रभाव।

ठोस कचरे का परिचालन करने वाले-नगर निकायों के कर्मचारी और कचरा बीनने वाले-सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। नागपुर स्थित राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान द्वारा किए गए एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि कचरे का परिचालन करने वालों में सामान्य आबादी की अपेक्षा पीलिया की दर सात गुना अधिक है। श्वसन रोगों की दर दोगुनी अधिक थी। कचरा बीनने वाले भी संवेदनशील वर्ग में हैं। यह अनुमान किया गया है कि बंगलौर में 35,000 और दिल्ली में 80,000 बच्चे कचरा बीनने के कार्य में संलग्न हैं।

उपसंहार

बढ़ते शहरीकरण और जीवनशैली में परिवर्तन के कारण भारतीय शहरों

में अधिक से अधिक ठोस कचरा उत्पन्न होने लगा है, पर जिसे पुनःचक्रित किया जा सकता है, उसे पुनः चक्रित कर, जिसका उपयोग किया जा सकता है उसका सदुपयोग कर (जैसे लैण्डफिल गैस का ईंधन में उपयोग), और शेष का उचित निपटान कर, हम इसके दुष्प्रभाव रोकने के साथ ही संपदा उत्पन्न कर सकते हैं।

विकृति की अप्रत्यक्ष कीमत

लकड़ी और उपलों के बदले मिट्टी के तेल जैसे स्वच्छ ईंधन या जहां व्यापारिक ईंधन की आपूर्ति में बाधायें हों, वहां अधिक सक्षम स्टोव में जैव ईंधनों का उपयोग करने पर व्यापक लाभ हो सकता है।

अर्थव्यवस्था पर्यावरण के संसाधनों का उपभोग कर उसमें प्रदूषण का उत्सर्जन करती है, और पर्यावरण के विकृति पर ध्यान न देकर हम स्वयं को जोखिम में डालते हैं। प्रदूषित पेय जल और अंदरूनी वायु प्रदूषण, ये दो भारत में बीमारी और मृत्यु के प्रमुख कारण हैं। वनों के विनाश से जलावन और औद्योगिक उपयोग की लकड़ी की कमी के साथ, परोक्ष रूप से भूमि की ऊपरी परत की हानि होती है। मृदा के विनाश से कृषि उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

अर्थव्यवस्था और पर्यावरण के रिश्ते को समझने का एक उपाय यह है कि इसका अनुमान किया जाए कि पर्यावरणीय प्रबंधन से आर्थिक तौर पर क्या पाना चाहते हैं और इसकी कीमत कितनी होगी।

विधियां

पर्यावरणी प्रबंधन के लाभों का आकलन

पर्यावरण के विनाश और ह्रास के अनेक बुरे प्रभाव, जैसे व्यक्तियों की स्वास्थ्य समस्याएं और उपज में कमी, को रोकना पर्यावरणीय प्रबंधन के संभावित लाभ हैं। उदाहरण के तौर पर, यदि सामान्य मृदा प्रति हेक्टेयर 2 टन गेहूं की उपज देती है, जबकि प्रभावित मृदा में केवल 1 टन गेहूं पैदा हो सकता है, ऐसे में पर्यावरण के नुकसान का आर्थिक आकलन 1 टन गेहूं के बाजार भाव से किया जाता है। हमने निम्न के मूल्यों का अनुमान किया–

- भूजल दोहन के कारण पानी की सतह का नीचे जाना
- मृदा विकृति के कारण अनाज उत्पादन में हानि
- वनों के विनाश के कारण जलावन और औद्योगिक उपयोग की लकड़ी में कमी
- अंदरूनी और बाहर के वायु प्रदूषण के कारण स्वास्थ्य पर कुप्रभाव

पर्यावरणी प्रबंधन की लागत का आकलन

पर्यावरण के विनाश और विकृति को निवारण के तरीकों से रोका जा सकता है। उदाहरण के लिए, प्रदूषण नियंत्रण उपकरण स्थापित कर वायु प्रदूषण को कम किया जा सकता है, मृदा के अपरदन को 'वेटिवर' (एक घास जिसकी जड़ें मृदा को जकड़कर रखती है) द्वारा रोका जा सकता है। इन निवारण के तरीकों की लागत पर्यावरणीय प्रबंधन की लागत है। विशेष तौर पर हमने प्रबंधन के निम्न तरीकों के लागत मूल्य का अनुमान किया- (1) पूरी शहरी आबादी की पाईप द्वारा पीने के पानी की आपूर्ति सभी शहरी और ग्रामीण आबादी के लिए स्वच्छता सुनिश्चित करना और (2) दिल्ली के वायु प्रदूषण की रोकथाम

परिणाम

पर्यावरणी विनाश और ह्रास के गहरे आर्थिक प्रभाव हैं (तालिका 6); पर्यावरणी नीतियां स्पष्ट तौर पर लोगों के रोजाना जीवन, विशेष तौर पर उनका कल्याण, प्रभावित कर सकती है।

तालिका 6 1997 में प्राकृतिक संसाधन के विनाश के आर्थिक पहलू का अनुमान **(अरब रुपयों में)**

समस्या	*वार्षिक आर्थिक आकलन (अरब रुपयों में)*
मानव स्वास्थ्य पर दूषित पानी का बुरा प्रभाव	122
मृदा में विकृति के कारण अनाज उत्पादन में कमी	89–232
वनों के विनाश के कारण लकड़ी की कमी	57
प्रदूषित वायु के बुरे प्रभाव	885–4250

आर्थिक विश्लेषण के परिणामों के आर्थिक विश्लेषण में सावधानी आवश्यक है-वे विधियों, कार्यक्षेत्र और अनुमान के प्रति संवेदनशील हैं। उदाहरण के तौर पर, हमने वनों के विनाश में केवल जलावन की लकड़ी और औद्योगिक उपयोग की लकड़ी की हानि का मूल्य निकाला। वनों के अन्य कई कार्य, जैसे जल के स्रोतों की सुरक्षा, मृदा की ऊपरी परत को बनाये रखना, और कार्बन के पृथक्करण के आकलन को छोड़ दिया गया है-ऐसा नहीं है कि उनका महत्व कम है, पर इनका आकलन अत्यधिक जटिल है।

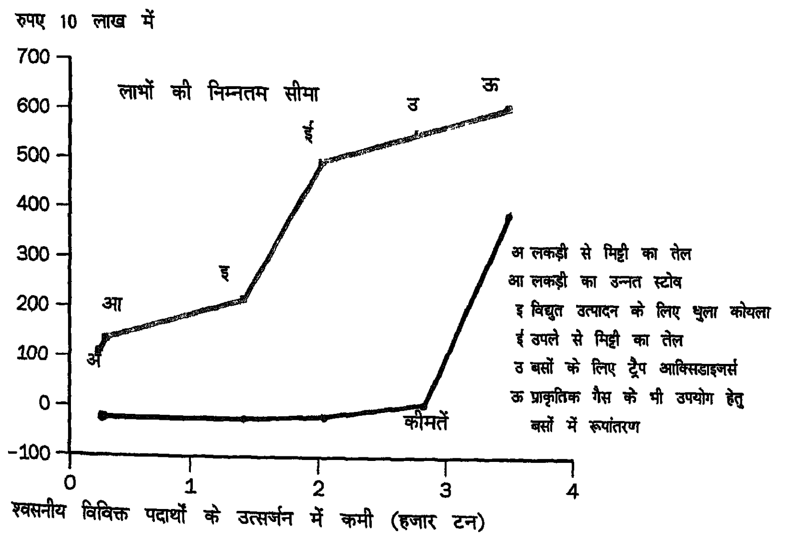
इस तरह के आकलन से विभाजित सूचनाओं को सटीक जोड़ने में तथा हमारे ज्ञान की कमियां खोजने में मदद मिलती है। उदाहरण के लिए, जबकि अंदरूनी वायु प्रदूषण के हमारे अनुमान अनिश्चित हैं, हमें कोई शक नहीं है कि परंपरागत विधि जिसमें परिवेशी वायु की गुणवत्ता को वायु प्रदूषण का सूचक माना जाता है की तुलना में कुल प्रभावन आकलन स्पष्ट तौर पर विकसित विधि है। कुल प्रभावन आकलन में विभिन्न स्थानों पर वायु के प्रदूषणकारी तत्वों की सांद्रता और इन स्थानों पर लोगों द्वारा व्यतीत किए जाने वाले समय का भी ध्यान

रखा जाता है। भविष्य में अनुसंधान इन प्रभावनों के बीच संबंध और भारतीय आबादी के स्वास्थ्य पर प्रभाव में संबंध पर केंद्रित कर सकता है। वर्तमान में हमें अमेरिका में किए गए अनुसंधानों पर भरोसा करना पड़ता है।

एक महत्वपूर्ण चेतावनी यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर बेहतर पर्यावरणीय प्रबंधन के कुल लाभ का आकलन हालांकि पर्यावरणी प्राथमिकताएं तय करने में मदद करता है, पर यह नहीं बताता कि विशेष समस्या का समाधान किस विशेष तरीके से किया जाए। किसी भी तरीके में यदि लागत उसके लाभ से ज्यादा हो तो उसे वैध नहीं ठहराया जा सकता। उदाहरण के लिए, स्वीडिश इंटरनेशनल डेवलपमेंट एजेंसी की मृदा संरक्षण द्वारा खेतों के विकास पर आधारित परियोजना को आर्थिक क्षमता के आधार पर वैध नहीं ठहराया जा सका–मृदा संरक्षण के तरीकों की लागत किसानों को मिलने वाले लाभ से अधिक थी, उतना ही खर्च दूसरी परियोजनाओं में करने पर अधिक लाभ मिलने की संभावना होगी।

फिर भी, हमारी गणना से स्पष्ट होता है कि दिल्ली में वायु प्रदूषण नियंत्रित करने के अच्छे आर्थिक लाभ हैं, भले ही संभावित लाभों का परम्परागत अनुमान लगाया जाए (चित्र 18)। कुल उत्सर्जन को कम करने में सर्वाधिक प्रभावशाली उपले के उपयोग में कटौती है। कोयले की धुलाई का व्यापक प्रभाव हो सकता है क्योंकि भारतीय कोयले में राख की मात्रा अत्यधिक रहती है।

स्वच्छ ईंधन (धुले कोयले सहित) के कुल आर्थिक लाभ महत्वपूर्ण हैं



चित्र 18 दिल्ली में निलंबित विविक्त पदार्थ (एस.पी.एम) के उत्सर्जन के निवारण के तरीकों की लागत और लाभ

उपसंहार

- भूजल के लगातार दोहन के कारण कुछ क्षेत्रों में यह अत्यधिक महंगा हो जाएगा। विद्युत आपूर्ति की सही कीमत को दर्शाने वाली परिवर्तित दरें और भूजल की एक समन्वित नीति से पानी के सही प्रयोग के लिए किसान प्रोत्साहित होंगे।
- सुरक्षित पेय जल और पर्याप्त स्वच्छता सुविधाएं सब तक पहुंचे, इसके लिए व्यापक निवेश की आवश्यकता होगी। फिर भी यह राज्य के लिए एक नागरिक के मुकाबले बहुत सस्ता है।
- मृदा में विकृति से अन्न उत्पादन में अत्यधिक कमी होती है। फिर भी मृदा संरक्षण के तरीकों के लागत मूल्य को लाभ के संदर्भ में देखना आवश्यक है। तरीके किसानों को मान्य और उनके द्वारा लागू करने की आवश्यकता है।
- भारतीय वनों के विनाश में नीतियों और कार्यान्वयन की असफलताओं का प्रमुख योगदान है। जलावन की लकड़ी के लिए एक अंतः-क्षेत्रिय प्रस्ताव और औद्योगिक उपयोग की लकड़ी के लिए कुशल प्रबंधन से देश के वन ज्यादा स्वस्थ्य और लाभदायी होंगे।
- वायु प्रदूषण, विशेष तौर पर अंदरूनी वायु प्रदूषण भारत की सर्वाधिक शोचनीय पर्यावरणीय समस्या है जिसका मानव स्वास्थ्य पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। लकड़ी और उपलों के बदले मिट्टी के तेल जैसे स्वच्छ ईंधन का प्रयोग या जहां व्यापारिक ईंधन की आपूर्ति प्रतिबंधित है, वहां सक्षम स्टोव में जैव ईंधनों के प्रयोग के लाभदायक परिणाम हो सकते हैं।

दिशा (दिशा, अभिनव परिवर्तन, और कार्य की रणनीति)

हमारी नियंत्रक संस्थाएं और प्रक्रियाओं में त्वरित परिवर्तन की आवश्यकता है। विद्युत, जल आपूर्ति और पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में कार्यरत ढांचा और तंत्र को सरकार के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र, पूर्णतया शक्तिशाली और व्यावसायिक होना पड़ेगा।

पिछले 50 वर्षों के दौरान पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुंची है। वृद्धि और विकास भारत के लिए सर्वोपरि रहे, पर यदि उनके तरीके में बदलाव नहीं आया तो देश के प्राकृतिक संसाधनों की गुणवत्ता और मात्रा में व्यापक कमी आएगी। अंततः इससे अर्थव्यवस्था प्रभावित होगी। यदि हम अभी कदम नहीं उठाते तो भविष्य की संभावित स्थिति आगे

के पृष्ठों पर प्रस्तुत है, इसमें योग्य संस्थागत और नीतियों में अंतर भी मोटे तौर पर वर्णित है।

प्रक्षेपण और अत्यावश्यक

यदि हम अभी कार्य नहीं करते और समस्या को अनदेखा करते हैं, तब भविष्य की स्थिति के बारे में मिलकर चिंतन करने की आवश्यकता है। हमारी गणना के अनुसार अगले 50 वर्षों के दौरान प्रतिवर्ष सकल घरेलू उत्पाद में 5.3% और कृषि में 2.2% की वृद्धि होगी। हालांकि यह वृद्धि दर धीमी प्रतीत होती है, पर इस वृद्धि दर पर भी औद्योगिक उत्पादन अत्यधिक होगा-स्टील के उत्पादन में 10 गुना से अधिक, सीमेंट में करीब 15 गुना, सूती वस्त्र का करीब आठ गुना अधिक उत्पादन होगा। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि सकल घरेलू उत्पादन के संयोजन में भी भारी परिवर्तन होगा-कृषि का योगदान महज 5% (वर्त्तमान 31%) रह जाएगा, जबकि उद्योगों का योगदान बढ़कर 40% (वर्तमान 29%) हो जाएगा और सेवा क्षेत्र का योगदान 47% (वर्तमान 35%) पहुंच जाएगा।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन और भी तेजी से फैलता शहरीकरण होगा-शहरी आबादी 1990 में 25% थी, जो 2047 में 50% से अधिक होगी और ग्रामीण इलाकों की जीवन शैली में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होगा। अगले पचास वर्षों के दौरान भारतीय समाज की जीवनशैली में महत्वपूर्ण परिवर्तन चिंता का विषय है, क्योंकि जीवनशैली, संसाधनों को प्रत्यक्ष और गहन तौर पर प्रभावित करती है। यदि हम वर्तमान तरीके से चलते रहे तो कचरे की लगातार बढ़ती मात्रा से पारिस्थितिकी तंत्र पर व्यापक बोझ पड़ेगा। उदाहरण के लिए भारतीय शहर अभी 4.8 करोड़ टन कचरा उत्पन्न करते हैं, 2047 तक यह मात्रा 30 करोड़ टन होगी।

ठोस कचरा - ठोस कचरे में इतनी भारी वृद्धि की अपनी कीमत है-संग्रहण, परिवहन और निपटान-इसके अतिरिक्त पर्यावरणीय मूल्य भी है, जिसकी राशि का अनुमान कर पाना कठिन है। केवल लैंडफिल स्थलों के लिए ही 170 वर्ग किलोमीटर भूमि की आवश्यकता होगी। 2047 में कचरे का परिवहन वर्तमान में कुल उत्पादित कोयले के परिवहन के समतुल्य होगा। कुछ कचरे को पुनः चक्रित करना संभव है-उदाहरण के लिए पैकेजिंग के लिए प्रयुक्त कागज, जिसकी खपत में 60 गुना वृद्धि होगी-पर इसे निकट भविष्य में संभव कर पाने के लिए अभी योजना बनाना आवश्यक है।

यदि वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही तो 2047 में कोयले की खपत इतनी अधिक होगी कि 36 करोड़ टन फ्लाई ऐश और 9 करोड़ टन बौटम ऐश उत्पन्न होगी। अभी फ्लाई ऐश को गीला कर एकत्रित किया जाता है, जिसका उपयोग कठिन है। यदि अनुसंधान और विकास

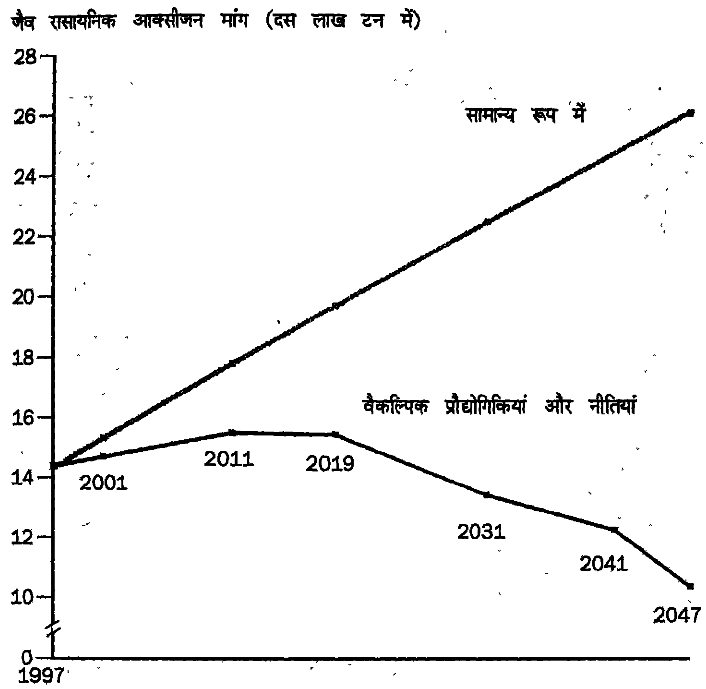
की दिशा वाणिज्यिक तौर पर सक्षम प्रौद्योगिकी विकसित करने की तरफ रही तो 2020 तक हम फ्लाई ऐश को शुष्क तौर पर एकत्रित करने लगेंगे। 9 करोड़ टन बौटम ऐश, जिसे घोल के रूप में ऐश पोंड में एकत्रित किया जाता है, के लिए 8000 हेक्टेयर भूमि की आवश्यकता पड़ेगी। हालांकि 40 वर्षों के अनुसंधान के बाद भी व्यवहार्य प्रौद्योगिकी विकसित नहीं की जा सकी है। हमारे अनुसंधान और विकास के प्रयासों को समयबद्ध और स्पष्ट होना पड़ेगा, यदि हम अगले दस वर्षों में कोई व्यवहार्य प्रौद्योगिकी विकसित करना चाहते हैं।

जल प्रदूषण – भारत में प्रदूषण का सर्वाधिक भयंकर स्वरूप जल प्रदूषण है जिसका स्वास्थ्य पर अत्यधिक प्रभाव है। घरेलू क्षेत्र कुल प्रदूषण भार (बी.ओ.डी. के संदर्भ में) में से 60% के लिए जिम्मेदार है। वर्तमान में मात्र 10% शहरी मलजल उपचारित किया जाता है, पर हमारे मलजल उपचारण संयंत्रों की दक्षता को आसानी से बढ़ाया जा सकता है। 2047 के लिए न्यूनतम लक्ष्य कुल उत्पन्न मलजल में से 70%–शहरों का शत–% और ग्रामीण क्षेत्रों का 40%–उपचारित करने का होना चाहिए। इससे आधा प्रदूषण कम हो जाएगा (चित्र 19) और अधिक जनसंख्या के बावजूद हमारी स्थिति आज के मुकाबले अच्छी होगी।

इसके बाद जल प्रदूषण में सर्वाधिक योगदान उद्योगों का है, जिन्हें मानक लागू कर (समय के साथ सख्त कर), और उन उद्योगों को आर्थिक प्रोत्साहन देकर जो मानकों को प्राप्त करते हैं, कम किया जा सकता है। यदि केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के मानकों के अनुपालन की वर्तमान वृद्धि दर कायम रही तो अल्कोहल उत्पादन करने वाली इकाईयों से 74% कम प्रदूषण उत्पन्न होगा, जल के उचित प्रबंधन द्वारा शेष प्रदूषण का 50% और कम किया जा सकता है।

वायु प्रदूषण – बढ़ते शहरीकरण और जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि के कारण भारतीय शहरों के वायु गुणवत्ता में और कमी आने की संभावना है। यदि वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही तो वाहन प्रदूषण में 6 गुना और औद्योगिक प्रदूषण में और भी अधिक वृद्धि होने का अनुमान है। लौह और इस्पात तथा सीमेंट, वायु प्रदूषण उत्पन्न करने वाले प्रमुख उद्योग होंगे। औद्योगिक इकाईयों द्वारा उत्पन्न वायु प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए ढांचागत परिवर्तन की आवश्यकता होगी, जिसमें स्वच्छ उत्पादन प्रक्रिया और प्रौद्योगिकी का प्रसार तथा औद्योगिक उत्पादन के मिश्रण में परिवर्तन सम्मिलित हैं, इससे पर्यावरणी हितकर और 'हरे' उद्योगों को बढ़ावा मिलेगा। इस प्रकार के बुनियादी परिवर्तनों में समय लगता है। जापान को 1973/74 के दौरान पहली बार तेल की मूल्य वृद्धि के संकट के दौरान शुरूआती सफलता मिलने के बाद भी कम ऊर्जा की आवश्यकता वाले उत्पादों को बनाने में करीब चौथाई शताब्दी लगी।

वैकल्पिक प्रौद्योगिकियां और नीतियां प्रदूषण के भार को काफी हद तक कम कर सकती हैं



चित्र 19 घरेलू क्षेत्र से उत्पन्न जल प्रदूषण भार का अनुमान

कई अध्ययनों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है कि वायु प्रदूषण नियंत्रण के आर्थिक लाभ केवल स्वास्थ्य तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि यह आर्थिक तौर पर व्यवहार्य भी है-यदि स्वस्थ आबादी के आर्थिक पहलू पर गौर करें तो योजना को लागू करने की कीमत आड़े नहीं आती। अंदरूनी वायु प्रदूषण मुख्यतः खाना पकाने के लिए लकड़ी और उपले जलाने से उत्पन्न प्रदूषण-को नियंत्रित करने के लाभ और भी अधिक हैं, और इससे सर्वाधिक लाभान्वित ग्रामीण इलाकों और झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाला महिलाओं और बच्चों का वर्ग होगा।

अंदरूनी (इनडोर) वायु प्रदूषण को कम करने के लिए, मिट्टी के तेल और खाना पकाने की गैस की पहुंच को बढ़ाना और गैर-व्यापारिक ईंधनों का सक्षम उपयोग करने वाले उपकरणों को बढ़ा देना, व्यवहार्य कदम है। ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापारिक ईंधनों की आपूर्ति सीमित रहने के कारण यह आवश्यक है कि सरकार के उन्नत स्टोव और बायोगैस कार्यक्रम को व्यापक बनाया जाए। अब तक इन कार्यक्रमों का प्राथमिक लक्ष्य जलावन की लकड़ी की खपत को कम करना था, पर उपभोक्ताओं को इसका सबसे बड़ा लाभ धुंए की मात्रा

में कमी है।

मिट्टी – प्रत्यक्ष तौरपर जिस मिट्टी को जल भराव या दूसरे तरीकों से खतरा नहीं है, अन्य समस्याओं जैसे पोषक तत्वों की कमी से ग्रस्त हैं। उर्वरकों से अब इस नुकसान की पर्याप्त भरपाई नहीं की जा सकेगी, परिणामस्वरूप मृदा की उत्पादकता कम होगी। इससे जिस भूमि पर पहले दो भुट्टा या घास की दो पत्तियां पैदा होती थीं, उस पर अब एक ही उपजेगा।

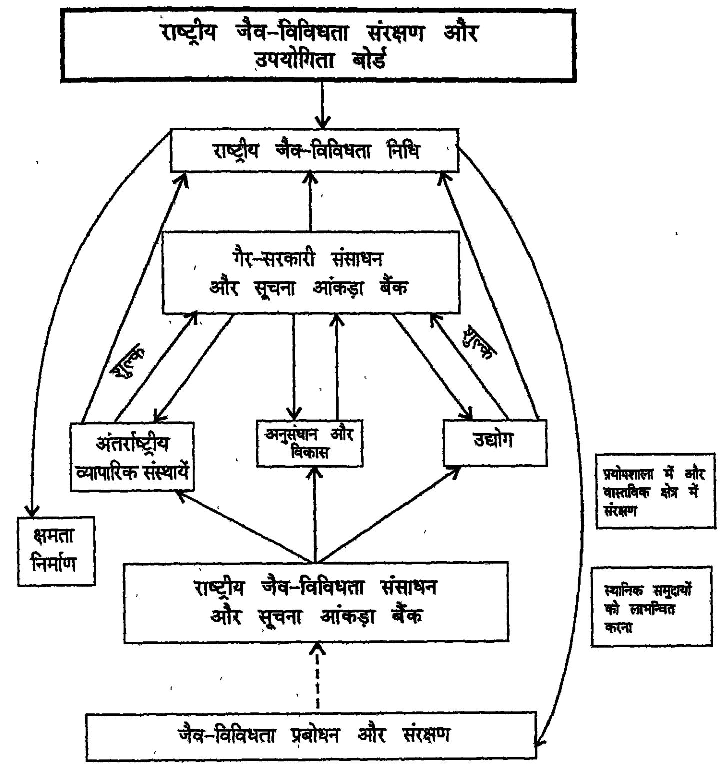
हमारा अनुमान है कि 2047 तक मृदा की गुणवत्ता में कमी के कारण प्रतिवर्ष 4 करोड़ टन प्रमुख पोषक तत्वों–नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाशियम का नाश होगा। इस नाश को रोकने के मूल्य–व्यवहार्य और प्रायोगिक तरीकों के विकास के लिए अवलोकन, प्रबोधन और मानचित्रण की मदद से मृदा विकृति की समस्या का और विस्तृत आकलन आवश्यक है।

वन – भारत में वनों की संभावित उत्पादकता के मुकाबले ईंधन की लकड़ी, चारा और औद्योगिक उपयोग की लकड़ी की मांग अधिक है। ईंधन की लकड़ी की मांग को अन्य ईंधनों को बढ़ावा देकर कम किया जा सकता है, पर इसके लिए वानिकी क्षेत्र से बाहर के क्षेत्रों का हस्तक्षेप आवश्यक है–अतः अंतर–क्षेत्रीय प्रस्ताव की अधिक आवश्यकता है। हमें वानिकी की योजनाओं पर अभी ध्यान देना होगा, क्योंकि वनों को बढ़ने में समय लगता है। उदाहरण के तौर पर जर्मनी में वर्ष 2050 तक की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर वानिकी की योजनायें बनाई गई हैं। भारत के वानिकी की नीतियों को, राज्य–विशेष तथा क्षेत्र–विशेष परिस्थितियों का समावेश करने के लिए, विकेंद्रित करना पड़ेगा।

जैव–विविधता – यदि हमने विनाश के वर्तमान तरीकों को जारी रखा, तो देश की अधिकतर जैव–विविधता हमेशा के लिए विलुप्त हो जाएगी। इस बहुमूल्य प्राकृतिक संपदा के संरक्षण के लिए प्रयोगशाला और वास्तविक क्षेत्र पर किए गए उपायों में समन्वय आवश्यक है। इसमें वास्तविक कार्य करने वालों को शामिल करना, विश्वसनीय अनुसंधान संस्थाएं स्थापित करना तथा बहुराष्ट्रीय संस्थाओं से अपनी शर्तों पर समन्वय आवश्यक है (चित्र 20)।

ग्रीन इंडिया 2047 : अगला चरण

अब तक हमने भविष्य के विकास के लिए केवल अनुमान किया है, जिसका आधार वर्तमान प्रवृत्ति है। 2047 में ग्रीन (प्रकृति और पर्यावरण के संसाधनों में वृद्धि के साथ विकास) भारत के लिए परियोजना के अगले चरण में दृश्यलेखों की एक पूरी श्रृंखला और आवश्यक नीतियों और संस्थागत ढांचे पर विस्तृत सामग्री शामिल की जाएगी। हालांकि, अर्थव्यवस्था के अनुप्रेषण हेतु कुछ नीतियां और संस्थागत परिवर्तन को



चित्र 20 जैविक संसाधनों के सतत उपयोग हेतु प्रस्तावित

वर्तमान में भी चिह्नित किया जा सकता है।

प्रबुद्ध शासन और नीति-निर्धारण - शासन का ढांचा धीमी गति से बदलता है और दुर्भाग्य से यह परिवर्तन प्रायः विपत्ति और संकट का परिणाम होता है। परिवर्तन की प्रक्रिया, जिसका परिणाम संविधान का 73 वां और 74 वां संशोधन था, आजादी के 4 दशक बाद पूरी हुई जब कि परिवर्तन राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की इच्छा और शिक्षा का मूल था।

हमारी नियंत्रक संस्थाओं और तरीकों में परिवर्तन की तत्काल आवश्यकता है। विद्युत, जल-आपूर्ति और पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में कार्यरत ढांचा और तंत्र को सरकार के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र, पूर्णतया शक्तिशाली और व्यावसायिक होना पड़ेगा।

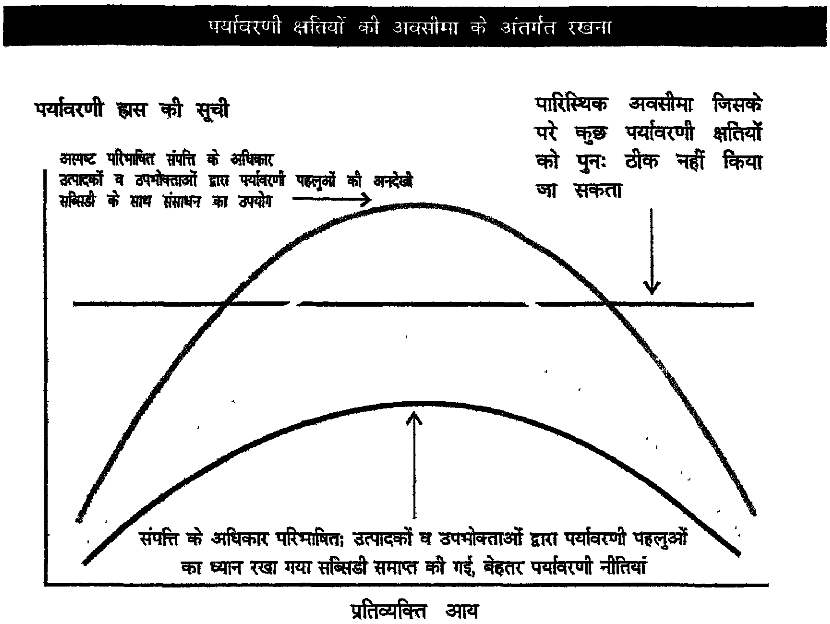
देश के विभिन्न हिस्सों के स्थानीय परिस्थितियों में व्यापक अंतर के कारण हरेक क्षेत्र के लिए विशेष पर्यावरणी मानक और मानदंड

बनाये जाने चाहिए, इसलिए स्थानीय निवासियों की हिस्सेदारी और दीर्घ-अवधि के समाधान के लिए कार्य आवश्यक हैं। स्थानीय संस्थाओं को वनों के प्रबंधन और संरक्षण का अधिकार प्रदान करने वाले, संयुक्त वन प्रबंधन कार्यक्रम की व्यापक सफलता का यही कारण था, यह साझेदारी, स्थानीय संस्थाओं को प्रोत्साहन और जन-शक्ति के सिद्धांतों पर आधारित थी। मुख्यधारा के आर्थिक पक्ष के साथ पर्यावरणी पक्ष को जोड़ने की आवश्यकता है। इसके लिए पर्यावरणी मूल्यों का प्रभावी आकलन जरूरी होगा। संक्षेप में भारत को न्यूनतम संभावित पर्यावरणीय कजनेट्स वक्र की तरफ ध्यान देना होगा। यह वक्र आय वर्गों और पर्यावरण संरक्षण के बीच संबंध को दर्शाता है (चित्र 21)। यदि उपयुक्त सांस्कृतिक, संस्थागत, तकनीकी और राजनैतिक माहौल मिले तो भारत जैसा देश न्यूनतम संभावित वक्र तक पहुंच सकता है।

जबकि शासन अब तक प्रशासन में प्रमुख भूमिका निभाता रहा है, दूसरी संस्थाएं भी संभवतः अब इसमें भागेदारी निभाएंगी। इसमें गैर-सरकारी संस्थाएं, व्यापारिक क्षेत्र, सहकारी, पंचायत और लघु उद्योगों के स्वामी शामिल हैं। 'ग्रीन भारत 2047' की कार्यसूची को लागू करने में व्यापारिक प्रतिष्ठान, अपने व्यापक आधार और संसाधन के कारण सर्वप्रमुख भूमिका अदा कर सकते हैं। टाटा ऊर्जा अनुसंधान संस्थान तथा कुछ अन्य संस्थानों द्वारा व्यापारिक प्रतिष्ठानों को उनके पर्यावरण संरक्षण के कार्यों के आधार पर सूचीबद्ध करना, इन प्रतिष्ठानों को पर्यावरण के प्रति अधिक जागरूक बनाने का एक तरीका है।

शासन में परिवर्तन का एक प्रमुख स्तम्भ पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों की स्थिति और प्रवृत्ति से संबंधित जानकारी का प्रसार होगा। इस प्रकार की सूचनाएं सरकारी विभागों द्वारा आसानी से उपलब्ध कराई जानी चाहिएं। यह, स्वयं में परिवर्तन का एक बड़ा कारक होगा। विकास और पर्यावरण संरक्षण के बीच की कृत्रिम खाई को पर्यावरण तथा प्राकृतिक संसाधनों के लेखा-जोखा से तथा पर्यावरण संरक्षण के विभिन्न उपायों के लाभ तथा मूल्य-सार्थकता का आकलन कर, पाटा जा सकता है।

संस्कृति और जीवन शैली - जब बाजार के सूचक खपत के पर्यावरणी प्रभावों की तरफ इशारा करने लगें तब उन्हें लागू करने के लिए संस्कृति और परंपरागत भारतीय मूल्यों की शरण में जाने की आवश्यकता है। संस्कृति द्वारा हमारे युवाओं के मस्तिष्क को प्रेरित करने की आवश्यकता है और सबसे छोटे आयु-वर्ग के बच्चों में पर्यावरण तथा प्राकृतिक संसाधन संरक्षण की पवित्रता को कायम रखा जाना चाहिए। पश्चिम के अंध-अनुकरण से हम केवल पर्यावरणीय, आर्थिक और सामाजिक विपत्ति के दलदल में फसेंगे। आज गांधी जी के मूल्यों और आदर्शों की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही।



चित्र 21 पर्यावरणी कजनेट्स वक्र : नीतियों, समृद्धि और पर्यावरणीय विनाश का संबंध

प्रौद्योगिकी का चयन कृषि अनुसंधान तंत्र को छोड़कर भारत का पूरा वैज्ञानिक ढांचा आम आदमी तक पहुंचने में असफल रहा है। इसका प्रमुख उदाहरण वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् है। प्रौद्योगिकी के विकास की मुख्य जिम्मेदारी औद्योगिक संस्थानों की है, पर तकनीक के विकास की संकल्पना और उद्योगों में स्थापित करने योग्य बनाने की जिम्मेदारी, अन्य कई देशों की तरह भारत में भी सरकारी-खर्च पर चलने वाली वैज्ञानिक संस्थानों की है। इन संस्थानों को समाज की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। निम्नलिखित लक्ष्य भारत समेत पूरे विश्व के लिए प्रासंगिक हैं-

1. जैव-विखंडन योग्य पदार्थों का विकास
2. कम ऊर्जा की आवश्यकता वाली तथा कम प्रदूषणकारी प्रौद्योगिकी
3. कच्चे माल का अधिक दक्ष उपयोग करने वाले उत्पादों और तकनीकों का विकास

भविष्य का मार्ग

ठोस विश्लेषण के आधार पर वैज्ञानिक और प्रबुद्ध वर्गों को अपनी पसंद की शुरूआत के लिए कदम बढ़ाना होगा। यह पसंद, लोगों की भागीदारी के साथ भविष्य की विचारधारा बनाने में मदद करेगी। इस

विचारधारा का अभी अभाव है और राजनीतिक चर्चाएं व्यर्थ की बातों में उलझी रहती हैं।

'ग्रीन इंडिया 2047' परियोजना और इसका द्वितीय चरण 'दिशा' कुछ मार्गदर्शन तथा भविष्य की दिशा तय करने का प्रयास करेंगे। इस प्रयास में 'टेरी' भारतीय समाज के हरेक वर्ग से व्यापक चर्चा करेगी जिससे यह परियोजना एक राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप ले, और इससे दूसरे भी प्रेरित हों। यदि इस तरह का विकास हुआ तो 'टेरी' में हम अति संतुष्ट होंगे कि हमने कम से कम अदृश्य शक्ति, समझदारी और विशेष प्रबुद्धता को बाहर लाने में उत्प्रेरक का कार्य किया जो 21वीं सदी के सतत विकास के लिए एक मॉडल की तरह उभरेगा।